

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 4

अप्रैल-जून 2017

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन. राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी.बी कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : [asthabharati1@gmail.com](mailto:asthabharati1@gmail.com)

वेब साइट : [asthabharati.org](http://asthabharati.org)

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## विषय-क्रम

---

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक संस्कृति रमेशचन्द्र शाह	7
2. हमारी राजनीति की दिशा बनवारी	16
3. सही राजनीति का मार्ग शंकर शरण	24
4. भारत में संसदीय लोकतन्त्र की सीमाएँ उदयन वाजपेयी	31
5. गाँधी का पुनर्गमन एवं गाँधीवादी राजनीति का भविष्य रामचन्द्र प्रधान	37
6. जनता की आलोचना ध्रुव शुक्ल	48
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'भाव'-विवेचन और 'उत्साह'-निरूपण : मनोवैज्ञानिक और चिन्तनात्मक समीचीनता—असमीचीनता का प्रश्न! पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	52
8. प्रेमचंद का राजनीति-दर्शन डॉ. कमल किशोर गोयनका	69
9. बौद्ध दर्शन-प्रस्थानों के सैद्धान्तिक मतभेद और एकवाक्यता के मूलभूत सूत्र अम्बिकादत्त शर्मा	82
10. आरक्षण का व्याकरण मनोज कुमार राय	96
11. झारखण्डी जनजातीय साहित्य में राजनीतिक चिन्तन डॉ. युगल झा	104
12. स्वामी विवेकानन्द और दलित समाज प्रो. किशोरी लाल व्यास	117
चिन्तन-सृजन, वर्ष-14, अंक-3	3

13. समीक्षा	122
समकालीन जीवन-संघर्ष की यात्रा	
प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय डी. लिट्	
पाठकीय प्रतिक्रिया	126
प्राप्ति-स्वीकार	128



## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### विमर्श का संकट

भारत में विमर्श के संकट का इतिहास पुराना नहीं है। भारत में पूर्व पक्ष के ज्ञान के अभाव में अपने पक्ष को रखना तर्क-संगत नहीं माना जाता था। किसी भी विमर्श का प्रारंभ ही विरोधी पक्ष की बातों को पूरी तरह से सुनकर उसके खण्डन तक, उसके बाद ही अपना पक्ष रख कर की जाती थी। अतः संवादहीनता की नकार हमारे यहाँ विमर्श की पहली शर्त होती थी। दुर्भाग्यवश आज वैसी स्थिति नहीं रही। संवादहीनता एवं पूर्व-पक्ष की नकार आज विमर्श की पहली शर्त बन गयी है। फिर विचारधारा को स्वयं सिद्ध मान कर चलनेवाला कुतर्क एवं तद्जन्य विखण्डन से स्थिति और बिगड़ी है। इससे न केवल विमर्श में सतहीपन आया है, वितण्डा का जोर बढ़ा है, तथ्य बाधित हुआ है, सामाजिक सोच में उलझाव भी आया है।

हमारे शिक्षा जगत में एक विशेष विचारधारा के प्रभुत्व के दुष्प्रभाव से हमारी सोच में भी विकृति आयी है; कुछ लोगों के विकृत आचरण को सारे समाज की विकृति मानकर किए जानेवाले आलेखन की भरमार आज न केवल समाचार माध्यमों, बल्कि सामाजिक विमर्श एवं सामाजिक शोध के क्षेत्र में भी मान्य हो चली है जो अत्यन्त घातक है। वस्तुतः समाज के इने-गिने लोगों के गलत व्यवहार या अपराध को हम समाज का सामान्य या सर्वमान्य व्यवहार नहीं मान सकते।

हमारे बौद्धिक विमर्श में आयी विकृति एवं सतहीपन के कई कारण हैं, जिनका दुष्प्रभाव हमारे जनजीवन के विभिन्न पक्षों पर हमारी राजनीति, सामाजिक एवं वैयक्तिक व्यवहार, संस्कृति एवं मूल्यों पर पड़ता दिखायी दे रहा है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं, जिनकी सघन पड़ताल एवं जिनमें अपेक्षित बदलाव आवश्यक है।

आजादी के बाद भी हमारी बौद्धिक एवं शैक्षिक जड़ता बनी रही, जिसके चलते शिक्षा, शोध एवं चिन्तन के क्षेत्र में अपेक्षित बदलाव नहीं आया। उपनिवेशवादी सोच से हमारा बौद्धिक वर्ग न केवल जकड़ा रहा, बल्कि उसके राजनीतिकरण से स्थिति लगातार बिगड़ती गयी। इससे हमारा बौद्धिक वर्ग लगातार समाज से कटता गया। हमारा बौद्धिक विमर्श एवं शोध समाज की समझ बढ़ाने का साधन न बनकर उसे बाँटनें, समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य दरार पैदा करने का साधन बनता गया। इससे हमारा बौद्धिक उलझाव बढ़ा; विमर्श का स्तर लगातार गिरता गया। भारत को एक जानकार समाज बनाने में हमारा बौद्धिक वर्ग विफल रहा।

कुछ और बातें, जो विशेष रूप से चिन्ताजनक हैं, उनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है। प्रथमतः, हमारे आज के विमर्श, हमारे आज के चिन्तन एवं शोध कार्य में मौलिकता का पूर्णतः अभाव है। फिर वैचारिक, बौद्धिक एवं अकादमिक कार्यों में आपसी तालमेल की कमी, विद्वानों के बीच की संवादहीनता, भारतीय समाजशास्त्र के भारतोन्मुखी न होने एवं इस क्षेत्र में हुए कार्यों में अद्यतनीकरण के अभाव से भी समस्या पैदा होती है।

— ब्रज बिहारी कुमार

## स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक संस्कृति

रमेशचन्द्र शाह\*

हर जीवंत और आत्म-बोध-सम्पन्न समाज अपने लिए उपयुक्त राजनीति का चुनाव करता है। आज जो दृश्य हमारे सामने है, वह यदि हमें विशुद्ध करता है, तो क्यों? यदि वह हमारे समाज की ही राजनीतिक संस्कृति नहीं है, तो फिर किसकी है? किस प्रजा में राजनीति और राजनीतिज्ञों के प्रति इस कदर आकर्षण दिखाई पड़ता है? किस देश में सर्वाधिक सृजनशील और सुस्कृत प्रबुद्धजन इसी राजनीति और उसके कर्ता-धर्ताओं से इतने विरक्त और उदासीन दिखाई देते हैं? किस और देश में हर समस्या के राजनीतिकरण की रफ्तार इस कदर तेज और संक्रामक साबित हुई है? बहस की आजादी भारतीय संस्कृति की पुरानी विशेषता है और वह उसके गणतंत्रों और पंचायतों में बराबर कायम रही आई। अमर्त्य सेन के 'दि आर्ग्युमेंटेटिव इण्डियन' में उसी का अनुकीर्तन सुना जा सकता है। परंतु वही बहस अब कैसे मानो अर्थशास्त्र के 'घटती उपयोगिता के नियम' के तहत एक कर्कश कोलाहल में रूपांतरित होकर नितांत ऋणात्मक परिणाम उपजाती हुई पूरे देश में व्याप्त है? इसमें दोष मूल संस्कृति का नहीं, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर (यानी, दास्योत्तर) काल में बढ़ते गए सामुदायिक वैमनस्य, जातीय विद्वेष, प्रादेशिक संकीर्णता और राष्ट्रद्रोही प्रच्छन्न राजनीति के प्रचार का है। सामुदायिक सरोकारों के तनाव से जूझते रहने में ही हमारे विशाल और अन्यथा सुदृढ़ जनतंत्र की अधिकांश ऊर्जा नष्ट हो रही है। अधिकारों की चेतना जिस अनुपात में बढ़ी है, कर्तव्य की चेतना उससे ठीक उलटे अनुपात में सिकुड़ती गई है। सर्वाधिक शोचनीय स्थिति तो सांस्कृतिक समृद्धि और राजनीतिक संस्कृति के भी सबसे महत्वपूर्ण स्रोत 'शिक्षा' की ही गुणवत्ता में आ पैठी निरंतर गिरावट की है। मार्क्स ने कहीं लिखा है कि 'इतिहास में अनुकरण किसी भी समुदाय को दुनिया की नजर में हास्यास्पद बनाता है।' लगता है, हमारा देश मार्क्स की बस एक उसी उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। जो देश स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह औरों को क्या

संपर्क : एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462 003

चिन्तन-सृजन, वर्ष-14, अंक-4

सीख दे सकता है? जीवन में उच्चस्तरों पर आदर्शवाद के साथ अपेक्षाकृत निम्नस्तरों पर यथार्थवादी पकड़ भी अनिवार्य है। यही 'स्पिरिचुअल कामनसेंस' है। 'मैडिटेटिव माइण्ड' के साथ-साथ 'कैल्कुलेटिव माइण्ड' भी चाहिए : उपनिषद् के साथ, और अलावा पंचतंत्र भी चाहिए। राजधर्म के महत्त्व को रेखांकित करनेवाला महाभारतीय भीष्म पर्व और चाणक्य-नीति भी चाहिए। स्वतंत्र भारत के प्रथम जन-नायक पण्डित नेहरू की महत्ता से भला किसे इनकार होगा! मगर, उक्त संतुलन और मात्रा-ज्ञान में उनकी चूक इस देश को कितनी महँगी पड़ी—यह भी क्या अब स्पष्ट उजागर नहीं हो चुका है? अति तो अति ही होती है : कैसी इतिहासज्ञता थी उनकी, जो सदा के साम्राज्यवादी चीन को और उसके नए कम्युनिस्ट अवतार को भी, 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' की अति आदर्शवादी रोमानियत में घुलाने को तत्पर हो गई—मानो उनकी शांतिपरक गुटनिरपेक्ष सौहार्द की विदेश नीति से चीन की सहमति स्वयं सिद्ध हो।

दरिद्रता के निवारण का जो लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही तय हुआ था, वह तो अभी तक चरितार्थ होता नहीं देखता। न सिर्फ दरिद्रता कायम है, बेहतर जीवन के लिए आवश्यक साधन भी अलभ्य बने हुए हैं ज्यादातर लोगों के लिए। पीने का पानी, चिकित्सा की सुविधा, साक्षरता, जीविका के साधन—क्या है इनमें, जो 'भारत माता ग्रामवासिनी' की कोटि-कोटि संतानों को अभी भी सुलभ हों? निजी अध्यवसाय से औद्योगिक उन्नति की आशा भी कुछ खास नहीं फल रही है। सबको याद होगा कि उन्नीसवीं सदी में दोराबजी टाटा को इस्पात का कारखाना लगाने के लिए जब विदेशी ऋण नहीं मिला तो, आनन-फानन में स्वराज्य की अभिलाषिणी भारतीय जनता से ही जरूरत भर पूँजी प्राप्त हो गई थी। ऐसा होना आज की तारीख में आसान नहीं रह गया है। ऐसा कदापि नहीं कि भारतीय पूँजीपतियों के पास धन की कमी हो। किन्तु जाने क्यों वे उस धन को विदेशी बैंकों में ही सहेजे रखना चाहते हैं; पूँजी के रूप में भारत में ही उसका निवेश करने को उत्साहित नहीं होते। वर्तमान भारत में न तो वैज्ञानिक-प्राविधिक खोजी ऊर्जा का महत्त्व देखता है, न नए पूँजी निवेश का साहस। तिस पर प्रतिभा-पलायन का संकेत हम ऊपर कर ही चुके हैं। क्या उसे सिर्फ 'मोबिलिटी ऑफ लेबर' मानके छुट्टी पा ली जा सकती है—जैसा कि कई लोग मानकर चल रहे हैं। इससे भी ज्यादा विकराल समस्या जनसंख्या के अभूतपूर्व विस्फोट की है, जिसकी कोई गम्भीर और कारगर चिन्ता हमारे राजनेताओं में नहीं देखती।

यह मानना तथ्य विरुद्ध है कि पुरानी भारतीय परम्परा जीवन को, भौतिक सुख को नकारती थी। सच्चाई यह है कि उस परम्परा में धर्म, अर्थ, काम तीनों का अपनी-अपनी जगह महत्त्व था—सिर्फ मुक्ति का नहीं। प्रेय और श्रेय का विवेक न हो, तो मनुष्यत्व का अर्थ ही क्या! मुक्ति की साधना व्यक्तिगत रूप से ही सम्भव है, किन्तु अभ्युदय की साधना समाज और राज्य की अपेक्षा रखती है। इसीलिए राज्य का आदर्श हमारे यहाँ सर्वसाधारण का हित-सुख माना गया है। 'जासु राज प्रिय प्रजा

दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी' तुलसीदास यों ही नहीं लिख गए। मगर इतिहास की विडम्बना देखिए कि जाने कब यह सहज बोध तो भीतर ही भीतर बिला गया और 'कोउ नृप होय हमें का हानी' वाली मानसिकता ही जड़ पकड़ती गई। महाकवि तुलसीदास की दृष्टि से यह यथार्थ भी ओझल नहीं हुआ।

आज के हालात को देखते हुए तो यही लगता है कि हमारा लोकतंत्र कई दूसरे देशों के मुकाबले काफी-कुछ कामयाब होने के बावजूद अभी तक हमारे लोगों के मूल मनःसंस्कार के अनुरूप किसी पुख्ता आत्मबिम्ब से परिभाषित नहीं हो सका है। अन्यथा राष्ट्रीय महत्त्व के मसलों को लेकर ऐसी संकल्पहीनता, राजनीति के उच्चतम स्तरों पर ऐसी मूल्यमूढ़ता और सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना का ऐसा ह्रास न दिखलाई पड़ता। आखिर क्या वजह है कि सांस्कृतिक एकता के सुदीर्घ ऐतिहासिक यथार्थ को राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ राजनीतिक पीठिका पर मूर्तिमान और गतिशील करने का कार्य अभी तक इतना दुस्साध्य बना रहा है?

एक छोर पर अरविन्द और गाँधी, फिर अगले मोड़ पर गाँधी और नेहरू—क्या इस द्वन्द्व को भारतीय पुनर्जागरण की अनिवार्य पूर्वप्रतिज्ञा की तरह देखा जा सकता है? विरुद्धों के सामंजस्य की रचनात्मक चुनौती की तरह? रवीन्द्रनाथ और गाँधी जी के बीच की टकराहट को और क्या नाम देंगे? इस विरोधाभास को क्या कहेंगे कि स्वयं गाँधी जी ने अपना उत्तराधिकारी पण्डित नेहरू को घोषित किया, जिनका जीवन-दर्शन और भारत की नियति का दर्शन भी गाँधी जी के दर्शन से असमंजस था? राजा राव के प्रसिद्ध उपन्यास 'कंठपुरा' के उपसंहार से ही, मसलन क्या ध्वनित होता है? यही ना, कि गाँधी के रूप में भारत की परंपरागत जीवन-दृष्टि का जो नवोन्मेष हुआ था, जिसने हमारे जनमानस को अभूतपूर्व ढंग से उन्मेषित कर दिया था, एक जीते-जागते राम के मिथक की तरह—उसने अंततः पण्डित नेहरू तथा अन्य पश्चिमोन्मुखी बुद्धिजीवियों के सामने हार मान ली?

साहित्यिक सृजन के क्षेत्र में 'मास्क' और 'एंटीसेल्फ' (अर्थात् मुखौटे और प्रति-रूप) की बात की जाती है। कलाकार को रचना के तर्क से ही अपना, प्रतिरूप गढ़ना आवश्यक हो जाता है। कवि विलियम ब्लेक का भी प्रसिद्ध कथन है कि "विदाउट कान्ट्रेरीज देयर इज नो प्रोग्रेशन" (बिना द्वन्द्व और विरोधों के प्रगति सम्भव नहीं)। क्या यह बात राजनीतिक संस्कृति पर भी लागू नहीं हो सकती? क्या नेहरू गाँधी जी के 'मुखौटे' या 'प्रतिरूप' थे? क्या टैगोर (या सुभाष बोस) और गाँधी, या पूर्व क्रांतिकारी अरविंद तथा उत्तरकालीन योगी अरविन्द के बीच भी कुछ उसी तरह के सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है?

कोई गाँधी पार्टी तो सत्ता की राजनीति में उभरनी नहीं थी। तब फिर तिलक और गाँधी अथवा गाँधी और नेहरू की विचार-दृष्टियों के समानान्तर दास्योत्तर

(स्वातंत्र्योत्तर) राजनीति का ध्रुवीकरण होता भी कैसे? विकल्प के नाम पर मात्र नेहरूई कांग्रेस और नेहरू से असंतुष्ट समाजवादियों के बीच की दरार भर ही तो बची थी। दो ही विकल्प थे : या तो राष्ट्रीय कांग्रेस ही अपनी दोहरी विरासत के अनुरूप नरम और गरम दलों के नए संस्करणों में विभाजित हो जाती और, इस तरह एक ओर अरविन्द-तिलक-पटेल, आदि तथा दूसरी ओर गाँधी-नेहरू-राजाजी आदि की धाराओं के रूप में पुनर्जन्म लेकर पुनर्संगठित होती; या फिर कम से कम इतना ही होता कि एक ओर पण्डित नेहरू एण्ड कम्पनी की कांग्रेस होती और, दूसरी ओर लोहिया सरीखे उन तगड़े समाजवादियों की, जो नेहरूजी वाले 'सोशलिस्टिक पैटर्न' से कहीं ज्यादा गहरे पैठ कर गाँधीजी के अभिलाषित 'हिन्द-स्वराज' और 'सर्वोदय' की रोशनी में भारतीय समाज के कार्याकल्प का ठोस देसी कार्यक्रम लेकर आगे बढ़ते। क्या यह सच नहीं, कि सुस्पष्ट विरोधों के बावजूद गाँधीजी किन्हीं मानों में पण्डित नेहरू की तुलना में अरविन्द-तिलक-पटेल और मुंशी के निकट थे और अपनी जनता की सत्याग्रही राजनीतिक दीक्षा के लिए उन्होंने स्वयं भारतीय जनमानस में गहरे पैठी हुई धर्म-भावना और देसी न्याय-बुद्धि का ही अवलम्बन लिया था? क्या अब आज की तारीख में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य नहीं हैं कि गाँधी जी के ये समाजवादी शिष्य जिन्होंने 'कुजात गाँधीवादी' की संज्ञा अपना कर खुद को सरकारी और 'मठी' गाँधीवादियों से अलगाना जरूरी समझा—वे अपने असली जनाधार से अपने लोकायतिक, अर्द्ध-बौद्ध और अर्द्धमाक्स्यीय मुखौटे के फलस्वरूप ही बिछुड़ गए? और, इसी कारण उनकी पण्डित नेहरू की तुलना में ज्यादा जमीन से जुड़ी राजनीति भी गाँधी-राजनीति के एक नए संस्करण के रूप में परजीवी कम्युनिस्टों से सर्वथा स्वतंत्र अपनी अलग तगड़ी पहचान कायम नहीं कर पाई। इस जन-चरित्र सांस्कृतिक छवि के अभाव में पण्डित नेहरू को जनमानस में बसी गाँधी-स्मृति और विरासत का भी लाभ मिलता रहा जो कि कृपलानी-लोहिया-जयप्रकाश को भी मिल सकना चाहिए था, यदि ये लोग सचमुच एकमत और एकजुट होकर गाँधीजी के सपनों के भारत को साकार करने हेतु संगठित हो पाते। जैसी अधोगति उनकी हुई, उसे देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि समाजवादी आंदोलन और उसका नेतृत्व गाँधीजी की सबको साथ लेकर चलने की प्रतिभा को चरितार्थ करने में सर्वथा विफल रहा। और, फलतः न केवल स्वयं को विखंडित करते जाने को अभिशप्त हुआ, बल्कि समाज को भी जोड़ने की बजाय तोड़ने का ही निमित्त बना।

आज विश्व के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदला जा सकता है। हमारी हिन्दी के बहुत महत्वपूर्ण समाजवादी कवि-चिंतक विजयदेव नारायण साहीजी की शब्दावली है यह। यह समूची मानव-नियति से जुड़ा विश्वव्यापी प्रश्न है, जो भविष्य की राजनीतिक संस्कृति का आदर्श होगा और जिसमें भारत का योगदान सबसे ठोस और अग्रणी होना चाहिए। किन्तु अभी तक की

कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी राजनीति के क्रियाकलापों को देखते हुए तो यह सम्भावना दूर की कौड़ी-सी लगती है। क्या अब जो राजनीतिक भूचाल-सा आया है, उससे कुछ दिशा परिवर्तन की उम्मीद की जा सकती है? पर, पहले हमें अपने थोड़े से किन्तु सच्चे सर्जको-बौद्धिकों की देन का गुण-ज्ञान तो हो, जो अभी तक सबसे अधिक तिरस्कृत अवहेलित रहे हैं। स्वयं भारतीय जनता पार्टी के कर्ताधर्ताओं द्वारा भी। उनमें से जो अब नहीं हैं सशरीर, वे भी अपने कृतित्व के बल पर जीवित हैं और जो अभी हमारे बीच विद्यमान, मगर अनसुने-अनपढ़े रहे आते हैं, उन्हें भी खोजी उत्साह और ऊर्जा के साथ सामने लाना हम सबका कर्तव्य है। विदेश में भी कुछ स्वाधीन चेतना वाले भारतीय बुद्धिजीवी सक्रिय हैं—‘विविधता’ नामक ग्रंथ के प्रणेता राजीव मल्होत्रा जैसे, जो हमारी संस्कृति और धर्म-चेतना की अपव्याख्या करने वालों को मुँहतोड़ जवाब देने में सक्षम हैं; शास्त्रार्थ के स्तर पर पश्चिम से तगड़ा संवाद कर सकने में भी।

आज भारत का सच्चा प्रतिनिधिक-प्रामाणिक बौद्धिक—भले अत्यंत अल्पसंख्यक-विरल—अपने घर के भेदियों और आत्मधिकारियों को इसी आत्मविश्वासी धरातल पर पहचानना और जाँचना-परखना चाहता है। हमें अपने प्राचीन ही नहीं, अर्वाचीन शक्ति-स्रोतों का भी पुनराविष्कार करना होगा। पुनर्मूल्यांकन भी। हमारा यह चिंतन—वैचारिक स्वराज का आग्रही सच्चा आत्मप्रतिष्ठित चिंतन—उस तरह पश्चिम-द्रोही नहीं रहा है। वह बराबरी के आधार पर पश्चिम से सम्बन्ध बनाना चाहता रहा है। श्री अरविन्द ही, मसलन जहाँ एक ओर यह मानते हैं कि “अपने केंद्र और निजी आधार को ढूँढ़ना ही उद्धार का एकमात्र उपाय है”, वहीं वे इस तथ्य को भी भली-भाँति जानते हैं कि “हमारे लिए यूरोपीय आक्रमण से पहले की स्थिति में लौटने का प्रश्न असफल होगा।” वे आधुनिक जगत् पर यूरोपीय आधिपत्य को भरपूर चुनौती देना चाहते थे और भारतीय मनोवृत्ति और मूल्यों का महत्त्व पुनः स्थापित करना चाहते थे। किन्तु, वे इस बारे में निःश्रान्त आत्मविश्वास से प्रेरित थे; न कि मनमाने इच्छित चिंतन से। वे साफ कहते हैं कि “यह कायाकल्प तभी हो सकता है, ‘जब भारत इन समस्याओं का भरपूर सामना करके इनका ऐसा हल निकाले जो उसके अपने आदर्शों तथा मूलभाव का समर्थन करे।’” क्या यह प्रकारान्तर से गहरे में कहीं गाँधीजी के भी मन की बात नहीं थी? आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन तो सबका हो सकता है और होना चाहिए। क्या वर्तमान दृश्य जिस राजनीतिक उथल-पुथल का नक्शा प्रस्तुत कर रहा है—वह उपर्युक्त मंत्रदाताओं को अभीष्ट राजनीतिक संस्कृति को भी पल्लवित-पुष्पित करने में सहायक होगा? फिलहाल तो राजनीति ही राजनीति प्रकट हो रही है, जिसे पुनर्जागृत संस्कृति कहा जा सके, उसके उभरने के लक्षण तो स्पष्ट उजागर होते नहीं जान पड़ते।

स्वातंत्र्योत्तर भारत यद्यपि अपना शासन लोकतांत्रिक पद्धति से चला रहा है, परन्तु उसके भीतर नाना प्रकार के पेंच और अन्तर्द्वंद्व भी हैं। उनके संतोषजनक

समाधान हेतु यह आवश्यक है कि वह, अपने वर्तमान राजनीतिक मूल्यों की जाँच-परख अपने चिरन्तन सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में करे। भारतीय समाज अभी भी व्यक्तियों में विभक्त न होकर सम्प्रदायों, जातियों और कुलों में विभक्त है। जितना ही जाति-भेद को मिटाने का प्रयत्न किया जाता है, उतने ही जोर से वे भेद अपने को संवैधानिक संरक्षण दे रहे हैं। हमारी मूल्य-चेतना का लगातार भ्रंश और विघटन ही हो रहा है इस दुश्चक्र के कारण। मनुष्य न तो राजनीतिक प्राणी है, न आर्थिक प्राणी है। वह सत्ता और धन-सम्पदा दोनों का उपयोग जीवन-रक्षा और जीवन-परिष्कार के लिए करता है या करना चाहता है। जीवन-परिष्कार, यानी संस्कृति भौतिक साधनों से नहीं सधती। न ही वह प्रकृति विज्ञान में समाप्त होती है। विज्ञान और प्रविधि के द्वारा आर्थिक नवनिर्माण और सामाजिक सुधार भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब मनुष्य में नई चेतना का आविर्भाव हो, जब उसकी अपनी पहचान में क्रान्ति हो। ठीक यही निष्कर्ष एक ओर श्री अरविन्द ने, और दूसरी ओर कृष्णमूर्ति ने भी हमारे सामने रक्खा है। और ये दोनों महापुरुष मात्र बुद्धिजीवी नहीं हैं : उससे बहुत ऊपर की कोटि की आत्म-साक्षात्कारी विभूतियाँ हैं। 'स्वराज की खोज' शीर्षक अपने एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान का समापन करते हुए विद्वद्वर गोविन्दचन्द पांडेजी कहते हैं :

“अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों ही मूल धर्म अथवा संस्कृति हैं और उसका आधार सनातन ज्ञान है, जिसकी पावन भागीरथी भारत को युग-युग से प्लावित करती रही है। अब एक भौतिकवादी सभ्यता उस पारम्परिक जीवन विधा को अस्त-व्यस्त कर रही है, जिसका मूल प्रबुद्ध जीवन दृष्टि है। पुरुष को प्रकृति में निमग्न करने से पुरुष चरितार्थ नहीं होता; न वह प्रकृति की ओर से सर्वथा मुख मोड़ लेने से होता है। पुरुष को अपनी प्रकृति के बंधन से मुक्त होकर पराप्रकृति से सम्पूर्ण होना है। मुक्त पुरुष ही समतादर्शी होता है, वही स्वराष्ट्र होता है, वही स्वराज का अधिकारी होता है।”

ठेठ समसामयिक राजनीतिक परिदृश्य का जायजा लेते हुए हमें हिन्दुत्व के आदर्श और यथार्थ की भी गहरी छानबीन में उतरना पड़ेगा। हम देखते हैं कि सामान्य हिन्दू जनता तो नहीं, किंतु औसत हिन्दू बुद्धिजीवी अपने हिन्दू होने को लेकर एक विचित्र उलझन और शाश्वत क्षमा याचना की मुद्रा में बोलते-बरतते पाए जाते हैं। ऐसा क्यों? अभी कुछ ही वर्ष पहले की बात है—किसी विख्यात अमरीकी नृत्यशास्त्री के अभिनंदन-ग्रंथ की समीक्षा करते हुए हमारे एक दार्शनिक मित्र ने खलबली मचा दी थी। उनका पश्चिमी विद्वानों से यही कहना था कि भई, हिन्दुस्तानी समाजों का नृतात्त्विक विश्लेषण तो तुमने खूब कर लिया, अब इस रिसर्च का मुँह जरा अपनी तरफ भी तो करो : अपने सामाजिक समूहों को भी तो नृतात्त्विक विश्लेषण का विषय बनाओ। बस इतने से ही वे विद्वज्जन तिलमिला गए। उन्हें यह सख्त नागवार गुजरा कि एक ऐसे देश और समाज का 'इनसाइडर' उनके द्वारा आविष्कृत शास्त्र और उस



शास्त्र की पूर्वमान्यताओं को लेकर ऐसी शंकाएँ और सवाल खड़े करने का दुस्साहस दिखाए, जो देश और समाज अभी तक महज एक 'आब्जेक्ट' रहा है उनके लिए।

यहीं पर मुझे हिन्दी के चोटी के कवि-विचारक स्व. अज्ञेय की याद आ रही है। एक इंटरव्यू के सिलसिले में किसी सवाल का जवाब देते हुए वे कहते हैं—“मैं अपने को हिन्दू कहना आवश्यक नहीं मानता, क्योंकि यह नाम मध्य काल में दूसरों के द्वारा अवज्ञा के भाव से दिया गया। लेकिन जिसे 'धर्म' कहा गया, उसकी परिधि में रह सका हूँ तो अपने को धन्य ही मानता हूँ।” इस पर किसी के भी मन में दो प्रश्न उठेंगे। पहला प्रश्न तो यही, कि यह 'धर्म' क्या है? और, दूसरा यह, कि यदि वह ऐसी धन्यता की अनुभूति उपजाता है मनुष्य जाति के अग्रणी विचारवान् और प्रखर संवेदनशील सदस्यों के मन में, तो फिर उस धर्म की सार्वजनिक पहचान के लिए उसका कोई नाम होना भी क्यों अनावश्यक है? नामांकित और स्पष्ट परिभाषित होना क्या अनिवार्यतः एक सँकरी गली में फँस जाना है? यदि नहीं, तो फिर नाम तो नाम ही है। जिस किसी भी कारणवश यह नाम आपके साथ नट्थी हो गया हो, अगर उसी नाम से दुनिया आपको और आपके धर्म को पहचानने-पुकारने की अभ्यस्त हो चुकी है, तो उसे स्वीकार कर लेने में ऐसा हर्ज क्या है?

अज्ञेय ने अपने ढंग से दोनों सवालों के जवाब दिए हैं, जो ठेठ आज की तारीख के संदर्भ में भी सार्थक और प्रासंगिक हैं। उनका कहना है कि “किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना को मैं संसार को भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूँ। यह इसके बावजूद है, कि आज मेरे समकालीन इसकी उपेक्षा करते हैं और उनके धर्म ने जिस संकीर्णता को सम्पूर्णतया अस्वीकार किया था, उसी संकीर्णता के सहारे अपनी धार्मिकता की कसौटी करते हैं। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया है, जितना भारतीय धर्म ने।” इस कथन में पहले सवाल का दो-टूक जवाब तो है ही, दूसरे सवाल का जवाब भी अन्तर्निहित हो गया है। तो क्या जिसे सामान्यतः हिन्दू धर्म कहा जाता है, उसी को अज्ञेय भारतीय धर्म का नाम दे रहे हैं? क्या उनका यह 'भारतीय धर्म' ही हिन्दुत्व का मूलाधार और आदर्श है—सौ फीसदी यथार्थ भले वह न हो? तो फिर यथार्थ क्या है? क्या वह आंतरिक स्वाधीनता और उदारता के इस आदर्श की अवहेलना या अस्वीकार है? याकि सदियों लम्बी राजनीतिक पराधीनता के फलस्वरूप एक बुरी तरह घायल सभ्यता में उत्पन्न हुए गतिरोध और आत्मविश्वासहीनता का प्रतिफलन है, जिससे हम धीरे-धीरे ही सही, किन्तु पक्के तौर पर उबर रहे हैं? निश्चय ही, वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में दिखाई देनेवाले कुछ सतही लक्षण भले ही इनमें से पहली बात को झलकाते हैं, व्यापक हिन्दू समाज का सत्य वह नहीं है। न ही वह हमारे सबसे संवेदनशील और समर्थ बौद्धिकों द्वारा प्रस्तुत यथार्थ कहा जा सकता है। मसलन, स्वयं भारत को एक समय एक घायल सभ्यता निरूपित करनेवाले नोबुल विजेता लेखक वी.एस. नायपॉल

अब उसके अस्थिर वर्तमान के बावजूद उज्ज्वल भविष्य को लेकर आश्वस्त हैं, और भरपूर आशावादी दृष्टि व्यक्त कर चुके हैं। ऐसे अनेक विचार-समर्थ लोगों का साक्ष्य तो यही झलकाता है कि तत्त्वतः विश्वधर्म कहलाने की पात्रता तो वस्तुतः इस भारतीय धर्म-संकल्पना में ही है : तथाकथित विश्वधर्म तो 'आध्यात्मिक से अधिक राजनीति धर्म ही जान पड़ते हैं—अपने उद्गम में ही नहीं, अपने ऐतिहासिक विस्तारवादी विकास में भी। वे कुछ मतवादों को प्रश्न से परे केंद्र में बिठाकर उन पर विश्वास करना अनिवार्य बना देते हैं। उनके घेरे में रहनेवाला ही धर्मवान् माना जाता है और बाकी सारे मनुष्य 'इनफिडल' या 'काफिर'। जबकि इसके ठीक उलट धर्म की भारतीय धारणा के केंद्र में ऐसे कोई 'डॉग्मा' नहीं हैं। हाँ कुछ प्रयोगसिद्ध जीवन-मूल्य अवश्य हैं : यहाँ प्रकृति और पारमार्थिक सत्ता की दिव्यता को चेतना के उच्चतम स्तरों पर अनुभव करने और उस अनुभव के आधार पर बिना प्रकृति से रण ठाने, प्रकृति के ही सहयोग से मनुष्य के प्राकृतिक जीवन को सांस्कृतिक-आध्यात्मिक जीवन में रूपान्तरित करने वाले पुरुषार्थ हैं। प्रमाण भी मानवीय चेतना के सूक्ष्मतम स्तरों पर सिद्ध किए जा सकनेवाले साक्षात्कार और साक्षात्कारी विभूतियाँ ही हैं। जैसे अभी पिछली सदी में प्रकट हुए रमण महर्षि, विशुद्धानन्द, महात्मा मंगतराम या निसर्गदत्त महाराज ही, मसलन।

तो हिन्दुत्व माने क्या? भारतीय धर्म-चेतना का वेदों से लेकर लोकगीतों तक ठेठ आज की तारीख तक प्रकट होते रहनेवाले महापुरुषों के अनुभवसिद्ध तथ्यों का निरन्तर जीवन्त-विकासमान रूप, जिसमें विकास का अर्थ पहले के अनुभवों का खारिज था 'सुपरसीड' हो जाना नहीं है। दरअसल नृतत्व की खदान भी यह देश इसलिए है कि यहाँ मनुष्य के कमाये हुए सांस्कृतिक-धार्मिक अनुभव के सारे स्तर और रूप महज ऐतिहासिक-पुरातात्त्विक रूप में नहीं, बल्कि जीवन्त विश्वासों-अनुष्ठानों के रूप में प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। हममें से कोई भी अपने भीतर या अपने आस-पास झाँककर अद्वैत के साथ-साथ देवी-देवताओं के इस विराट लोकतंत्र में अपनी ऐंद्रिक-प्राणिक-भावनात्मक और बौद्धिक साझेदारी के अनुभव को प्रत्यक्ष कर सकता है।

बेशक, इस सर्वस्वीकारी खुलेपन की अपनी समस्याएँ हैं। जहाँ सबसे ज्यादा छूट होती है, वहाँ नियमबद्धता, अनुशासन और एकता जैसे गुणों के लोप हो जाने की गुंजाइश भी सबसे ज्यादा होती है। हिन्दू धर्म अधिकार-भेद के यथार्थ को कभी आँखों से ओझल नहीं करता, परन्तु विश्वास की रूढ़ि पर बल न देते हुए आचरण पर बल देता है। अब, विश्वास की रूढ़ि न बनना तो बहुत अच्छी बात है—उसके बूते असहिष्णुता और परद्रोही वृत्ति से तो आपने अपने को मुक्त कर लिया; किन्तु, आचरण की रूढ़ियों का क्या करेंगे? खासकर पराधीनता और धर्मग्लानि के दौर में जब हम उन्हीं रूढ़ियों से चिपट रहने में ही अपनी कुशल और अपनी सुरक्षा मानने के अभ्यस्त हो जाते हैं, तब ऐसे में क्या पाखंड पनपने की भी गुंजाइश नहीं बढ़ेगी?

विश्वास की आंतरिक स्वाधीनता पर आधारित संस्कृति के साथ जो दिक्कत या खतरा जुड़ा है, वह यही कि वह महापुरुषों पर और दिव्य सत्ता और सामान्य जीवन के बीच सेतु सरीखे विप्रवर्ग पर निर्भर हो जाती है। आत्मरक्षा में असफल होने पर वह उन्हीं अपनों के प्रति संवेदनहीन हो जाती है, जिन्हें वह जैसे-तैसे अपनी परिधि में रखना चाहती है। शौर्य के अभाव में सत्य, तप और अनासक्ति सरीखे मूल्यों के लिए जोखिम उठाने का साहस गँवाकर, मात्र इन गुणों के आनुष्ठानिक अभिनयों से ही काम चलाने की यानी अभय-प्रेरित आचरण के बदले डरे हुए हिन्दुत्व की रूढ़ियों के खोल में दुबके रहने की आदी हो जाती है। इसके विपरीत छोर पर, जो सभ्यताएँ किसी एक मसीहा के वचन और जीवन-कार्य को ही एकमात्र और अंतिम प्रमाण मानकर उसके प्रति वफादारी पर ही अपने सामूहिक अस्तित्व की पहचान को प्रतिष्ठित कर लेती है, उनका काम अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। समूचा समाज एक लक्ष्य को समर्पित और संघबद्ध होकर अपनी सुरक्षा ही नहीं, अपने प्रभाव-विस्तार की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा की पूर्ति भी सुनिश्चित कर लेता है। बलात धर्मान्तरण सरीखे गहिर्त कार्य का भी औचित्य पा लेता है।

जो भी हो, ज्ञान, इच्छा और क्रिया का आदर्श संतुलन साध पाना मानव मात्र के लिए दुस्साध्य है। जहाँ ज्ञान विषय-प्रधान न होकर आत्मोन्मुख-आत्मजीवी है और इसलिए सूक्ष्म और परिष्कृत भी, वहाँ उसे जीवन-व्यवहार में चरितार्थ करने की सामूहिक इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति को साध पाने की चुनौती विकट सिद्ध हुई है। और, जहाँ इच्छा और क्रिया का योग ज्ञान के साथ आसानी से बिठा लिया जा सका है, वहाँ ज्ञान स्वयं या तो आसक्तिमूलक और स्थूल स्तरों का ज्ञान साबित हुआ है, या फिर विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण में प्रयुक्त होकर उसी के द्वारा चराचर सृष्टि की दिव्यता और पावनता बोध को ही उजाड़ देनेवाला। दरसल सारी समस्या की जड़ ही यही है—जैसा कि विख्यात विचारक हार्टमान ने भी कहा है कि “चेतना के सूक्ष्म स्तरों में स्थायित्व अधिक होने के बावजूद तात्कालिक तौर पर तो चेतना के अपेक्षाकृत स्थूल स्तर ही बलवत्तर सिद्ध होते हैं।” संस्कृति और राजनीति, धर्म और धर्मतंत्र, मानववाद और धार्मिक साम्राज्यवाद, धर्मनिरपेक्ष और सर्वधर्मसमभाव के बीच के सारे द्वन्द्व और बखेड़े इसी विडम्बना के भीतर से उपजे हैं। किन्तु चेतना के स्थूल और सूक्ष्म स्तरों के बीच उपयुक्त सामंजस्य और संवाद की खोज ही भारतीय धर्म की सर्वप्रमुख प्रेरणा और चालक शक्ति रही है। अब यह एक खुले शास्त्रार्थ का और वैश्विक लोक मंथन का विषय है कि इस चुनौती का प्रत्युत्तर देने में विभिन्न धर्मों या संस्कृतियों को कितनी—कैसी सफलता मिली है? हिन्दू संस्कृति और, अब, इस तथाकथित हिन्दुत्ववादी राजनीति की उपलब्धियों और सम्भावनाओं को तुलनात्मक धरातल पर इसी प्रश्न के यथार्थपरक परिप्रेक्ष्य में परखा जाना अभी शेष है।

## हमारी राजनीति की दिशा

बनवारी\*

भारतीय सभ्यता के केंद्र में समाज है, राज्य की भूमिका गौण है, वह समाज का उपकरण मात्र है, यद्यपि एक महत्वपूर्ण और आवश्यक उपकरण। यह बात भारतीय सभ्यता में अपनी गहरी निष्ठा के कारण गाँधीजी सहज ही समझ गए थे। गाँधीजी भी अन्य भारतीय नेताओं की तरह अंग्रेजों के खड़े किए गए शिक्षा तंत्र में ही दीक्षित हुए थे। वकालत की पढ़ाई पढ़ने के लिए भी वे इंग्लैंड ही गए थे। लेकिन अपने इस शैक्षिक परिवेश को उन्होंने अपने सोचने-समझने की दिशा तय नहीं करने दी। अन्य अधिकांश भारतीय नेता अपनी सभ्यता की विचार श्रेणी में इतने संलग्न नहीं थे। इसलिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव ग्रहण कर लिया। उन्होंने यूरोपीय सभ्यता का यह मंत्र ग्रहण कर लिया कि राज्य ही महत्वपूर्ण होता है। वह ही सभ्यता की धुरी है। उसी से सार्वजनिक जीवन की सारी व्यवस्थाएँ निकलती हैं और उसी से सार्वजनिक जीवन की सारी व्यवस्थाएँ निकलनी चाहिए। इसलिए जब हम अपनी पराधीनता के अंतिम काल में ब्रिटिश शासन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहे थे, गाँधीजी का अभिधेय भारतीय सभ्यता की पुर्नस्थापना था और हमारे अन्य सभी नेताओं का अभिधेय सत्ता परिवर्तन। महात्मा गाँधी की भारतीय समाज की तेजस्विता में, उसकी शास्त्रीय बुद्धि और उसकी विवेकशीलता में गहरी आस्था थी। इसलिए वे पराधीनता के समय क्षीण हुई उसकी ऊर्जा को फिर से उत्सर्जित करने में लगे रहे। यह काम समय साध्य था, श्रम साध्य था। वे अपने जीवन काल में भारतीय समाज की शक्ति को फिर से पूरी तरह क्रियाशील होते नहीं देख पाए। 1947 में जब भारत ब्रिटिश शासन से मुक्त हो रहा था, गाँधीजी 78 वर्ष के थे। वे इस अवसर को सभ्यता परिवर्तन का अवसर नहीं बना पाए। यह सत्ता परिवर्तन होकर रह गया। अंग्रेज चले गए, उनकी व्यवस्थाएँ बनी रह गईं। वे आज तक हमारे पुरुषार्थ की बाधा बनी हुई

\*पूर्व सम्पादक, जनसत्ता; पता: बी-201, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुन्धरा, गाजियाबाद-201 012 (उ. प्र.), मो. 09911450689.

हैं। अंग्रेजों की खड़ी की इन व्यवस्थाओं का भारत का रीति-नीति से मेल नहीं है। भारतीय समाज की अपनी व्यवस्थाओं को भारत के शासक और अग्रणी वर्गों ने अपने अज्ञान में उपेक्षित और निर्दित कर रखा है। उसका परिणाम राज्य और समाज के बीच निरंतर चलती रहने वाली खींचतान में दिखाई देता है। न राज्य में इतनी शक्ति है कि वह समाज को अपने अनुरूप ढाल ले। न अभी भारतीय समाज में इतनी शक्ति है कि वह राज्य को यह समझा सके कि भारत में राज्य नियामक होकर नहीं, सेवक होकर ही सार्थक हो सकता है।

पराधीनता से पहले भारत में सभी व्यवस्थाएँ स्वराज्य के सिद्धांत पर आधारित थीं। हमने सुदीर्घ काल में बहुत सोच-समझकर और अन्य प्रणालियों से उसकी तुलना करके देख लिया था कि स्वराज्य की व्यवस्थाएँ ही सर्वश्रेष्ठ व्यवस्थाएँ हैं। स्वराज्य वैसे एक वैदिक शब्द है, उसे आत्मवान बने रहने के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसी को सार्वजनिक व्यवस्थाएँ चलाने की विधि के रूप में उपयोग किया गया। लोक व्यवहार में उसके आधार पर जो व्यवस्थाएँ खड़ी हुई, उन्हें पंचायती व्यवस्थाएँ कहा गया। हमारी सभी संस्थाएँ पंचायती आधार पर ही गठित की गई और चलाई जाती रहीं। साधु-संन्यासियों के दशनामी अखाड़ों के नाम में भी पंचायती शब्द का व्यवहार हुआ। मंदिर पंचायती प्रबंध में बने और उनकी व्यवस्था होती रही। सभी भौगोलिक, सामाजिक और सांप्रदायिक इकाइयों पंचायती आधार पर ही बनाई और चलाई जाती रहीं। शादी-ब्याह में सबसे बड़ी महत्ता पंचायत को वर पक्ष की ओर से दिए गए दान की ही होती थी। महाभारत में युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म पितामह ने स्वराज्य को सबसे श्रेष्ठ विधि बताया था। लेकिन लोगों ने उसे शास्त्र से अधिक अपने अनुभव से जाना कि स्वराज्य की व्यवस्थाएँ, पंचायती व्यवस्थाएँ सर्वश्रेष्ठ व्यवस्थाएँ होती हैं। राजा का काम, राज्य का काम इन व्यवस्थाओं को बनाना नहीं, उनकी रक्षा करना है। राम राज्य की महत्ता केवल राजा राम के आचरण से नहीं है। उसकी महत्ता इसलिए है कि राजा राम के शासन में सभी लोग स्वतः नीति पूर्वक, धर्मपूर्वक आचरण करते थे। स्वतः नीति पूर्वक आचरण करना ही स्वतंत्र होना है—अपने तंत्र में होना है।

संसार में भारत के लोग ही पूरी तरह स्वतंत्र रहे हैं। बाकी जगह लोगों को सीमित स्वतंत्रता ही प्राप्त रही है। यूरोप में दो-तीन प्रतिशत अभिजात वर्ग को छोड़कर कोई स्वतंत्र नहीं रहा। यूरोप की व्यवस्थाएँ दासता पर आधारित व्यवस्थाएँ रही हैं। इस दासता का स्वरूप भर बदलता रहा है। यूरोप में 1860 में कानूनी रूप से स्लेवरी समाप्त कर दी गई। लेकिन राजा की जगह जो राज्य आया, वह राजा से भी अधिक शक्तिशाली है। उसके पास विधि का अधिकार है और सिद्धांततः वह ही अपने राष्ट्र की सारी संपत्ति का स्वामी है। लोगों के जीवन पर भी उसी का सर्वाधिकार है। उसके इस अधिकार के दर्शन पहले महायुद्ध से पहले बनाए गए इन कानूनों में किए जा सकते हैं कि युद्ध के लिए राज्य सभी को सेना में भर्ती होने के लिए विवश कर सकता

है। इन कानूनों के आधार पर पहले और दूसरे महायुद्ध के समय सभी युद्धरत यूरोपीय देशों के नागरिकों को सेना में भर्ती होना पड़ा था और उन अनावश्यक युद्धों में आठ करोड़ लोग मारे गए थे। बहुत से परिवारों में तो सारी संतति ही युद्ध की बलि चढ़ गई थी। इन आधुनिक राज्यों से पहले किसी राजा के पास इतने अधिकार, शक्ति और सामर्थ्य नहीं था। आज राज्य अपने नागरिकों पर जितना चाहे कर लगा सकता है। उसकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं है। यूरोप के पुराने राजा सामान्य लोगों की जिस लूट-खसोट के लिए जाने जाते हैं, आधुनिक राज्य उसी को प्रत्यक्ष करें या अप्रत्यक्ष करें के द्वारा बड़ी आसानी से प्राप्त कर लेते हैं। कागजी मुद्रा के प्रसार ने उन्हें यह छूट दे दी है कि वह अपने सामर्थ्य से अधिक खर्च करें और उसका बोझ वित्तीय नीतियों के कुटिल उपयोग से नागरिकों पर डाल दें। पुराने भारत का कोई राजा ऐसा नहीं कर सकता था। न सार्वजनिक साधनों के दुरुपयोग की जैसी छूट आजकल मिली रहती है, वह पंचायती व्यवस्थाओं में पहले कभी संभव थी।

राज्य को आज जो अभूतपूर्व और आतताई शक्ति मिल गई है, उसका व्यवहार में उपभोग राजनीतिक वर्ग और प्रशासनिक तंत्र के लोग ही करते हैं। आज की राज्य व्यवस्थाओं में एक छोटे से वर्ग को अपरिमित शक्ति मिली हुई है। इस तथ्य को छुपाने के लिए राज्य को चुनाव प्रणाली द्वारा जनता से जोड़ दिया गया है। केवल चुनाव के आधार पर इस व्यवस्था को लोकतंत्र का नाम दे दिया गया है और राजनीतिशास्त्र की पुस्तकें जनता के शासन के रूप में उसकी व्याख्या करतीं और उसके गीत गाती थकती नहीं हैं। व्यवहार में एक राजनीतिक वर्ग पनप आता है जो चुनाव लड़ने में सिद्धहस्त होता है और लोगों को आँख मीचकर उपलब्ध चुनावी योद्धाओं में से किसी एक के पक्ष में अँगूठा लगाना होता है। इस तरह चुने गए लोग विधि का निर्माण करते हैं। विधि निर्मात्री संस्थाएँ परस्पर स्पर्धी राजनीतिक शक्तियों का अखाड़ा होती हैं और विधि निर्माण का सारा काम बहुमत के आधार पर होता रहता है। इस पतित और अनाचारी व्यवस्था के कारण ही महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था को वेश्या कहा था।

भारतीय सभ्यता की बुद्धि से विधि का निर्माण सर्वानुमति से ही किया जा सकता है। जिस विधि के निर्माण में सर्वानुमति न रही हो, उसका पालन करने की अपेक्षा सबसे की ही नहीं जा सकती। पंचायती व्यवस्था में जब तक सर्वानुमति न हो जाए, विधि का निर्माण संभव ही नहीं है। विधि के निर्माण में धर्म बुद्धि चाहिए। उसका निर्माण राजनीतिक बुद्धि से हो ही नहीं सकता। विधि निर्माण किसी एक जगह पूरे देश के लिए हो, यह और भी हानिकारक है। विधि निर्माण एक निरंतर प्रक्रिया है। वह सभी स्तरों पर और सभी इकाइयों में होती रहनी चाहिए। भारतीय समाज के बारे में यह कहा जाता रहा है कि वह संसार का सबसे अधिक विधिपूर्वक चलनेवाला समाज है। विधि स्वराज्य में ही संभव है। स्वशासी इकाइयाँ ही विधि आधारित होती

है। यूरोप के अनुकरण पर जो राज्य व्यवस्थाएँ बनी हैं, उनमें राज्य एक बाहरी संस्था का स्वरूप ले लेता है और उसकी बनाई विधि भी। राज्य द्वारा लॉ निर्मित होता है, विधि नहीं। विधि नियमन के लिए है। लॉ का उद्देश्य नियंत्रण करना है।

यूनान के नगर राज्यों में राज्य शक्ति का निर्माण एक राजनीतिक वर्ग करता था, जो योद्धाओं से बना था और नगर में रहता था। उसी को सिविल सोसायटी कहा गया है। मध्य भारत में अभिजात वर्ग ही राजनीतिक वर्ग था। औपनिवेशिक काल में जब और बड़े राजनीतिक वर्ग की आवश्यकता पड़ी, जो केवल अभिजात वर्ग से निर्मित नहीं हो सकता था तो उसके बाहर के योद्धा और नगर के धनी लोगों को भी उसमें जगह मिलने लगी। यूरोप में राज शक्ति परस्पर स्पर्धा से निर्मित होती थी। इस स्पर्धा के लिए राजनीतिक दल बने। पहले उनका आधार राजा समर्थक और राजा से अधिकार माँगनेवाले समूह हुआ। कुछ दूसरी जगह यह विभाजन भूपतियों और मजदूरों की हिमायत के आधार पर हुआ। कुछ जगह कैथलिक और समाजवादी आधार पर दलबन्दी हुई। राजनीतिक स्पर्धा के लिए होनेवाली यह सारी दलबन्दी विचार पर आधारित थी। धीरे-धीरे यह वैचारिक भेद भी कमजोर पड़ते गए। राजनीतिक दलों का काम चुनाव के समय अपने पक्ष में जन-समर्थन जुटाना भर हो गया। दलीय विभाजन की जड़ें फैलीं और लोग राजनीतिक रूप से विभाजित हो गए। उसके बाद सारा कौशल राजनीतिक रूप से अनिष्ठित लोगों को चुनाव के समय अपने पक्ष में करना हो गया। इस राजनीतिक संघर्ष की कोई मर्यादा नहीं रही। लोगों की चुनावी गिरोहबन्दी के लिए छल-कपट तक का सहारा लिया जाने लगा। राजनीति में पहले भी धनी और अपराधी तत्त्वों की भूमिका थी। धीरे-धीरे वह और भी बढ़ती गई। इस राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में ऐसे लोग उभरे, जिनके व्यक्तित्व में लोगों को प्रभावित करने की कोई करिश्माई शक्ति थी। हिटलर और मुसोलिनी ऐसे ही लोग थे। दूसरी तरफ राजनीतिक दलों के बीच निरंकुश और युद्धोन्मादी तत्त्वों का उभार हुआ। चर्चिल उसी तरह का व्यक्ति था। ऐसे नेता यूरोप को पहले और दूसरे महायुद्ध में घसीट ले गए।

रूस की क्रांति के साथ राजशक्ति का निर्माण करनेवाली एक और विचारधारा का उदय हुआ। उसने वर्गभेद मिटाने के नाम पर सर्वहारा की तानाशाही का नारा दिया। उसके आधार पर सशस्त्र संघर्ष के जरिए एक नया वर्ग सत्ता में आ गया। उसने भी राज्य को सर्वाधिकार दिए और साम्यवाद में निष्ठा दिखानेवाला एक राजनीतिक वर्ग राज्य का कर्ताधर्ता हो गया। आम लोगों की स्थिति फिर दासवत हो गई। उनके पास न संपत्ति का अधिकार है, न विधि का। पश्चिमी डेमोक्रेसी मुनाफा लूटनेवाली बड़ी कंपनियों के प्रभाव में चली गई तो कम्युनिस्ट राज्य एक निरंकुश वैचारिक गिरोह की गिरफ्त में चले गए। स्टालिन या माओ के समय इस गिरोह ने क्या किया, यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है। औपनिवेशिक काल में यूरोप की शक्ति का जो विस्तार हुआ था, उसके कारण यूरोपीय लोगों में एक नई ऊर्जा आ गई

थी। वह सामरिक शक्ति जुटाने में लग गई। एक प्रतिस्पर्धी विश्व में सामरिक शक्ति ही निर्णायक होती है। यह सामरिक शक्ति व्यक्तिगत साहस और युद्ध कौशल से अधिक नए अति-संहारक आयुधों पर आधारित थी। उसी में से सामान्य लोगों के भौतिक जीवन को प्रचुर बनानेवाली औद्योगिक सामग्री पैदा करने का तंत्र विकसित हुआ।

यूरोपीय जातीय की इस भौतिक प्रगति का दुनियाभर के लोगों पर बड़ा मादक प्रभाव हुआ। हमारे कवियों ने कनक की मादकता का वर्णन किया ही है। जैसे शराब पीकर व्यक्ति काल्पनिक संसार में खो जाता है, वैसे भौतिक प्रगति के विचार की मादकता ने भारत समेत दुनियाभर के लोगों को अपनी सभ्यता के वास्तविक संसार से काटकर यूरोपीय विचारों के काल्पनिक संसार में पहुँचा दिया। औपनिवेशिक दौर में यूरोप दुनिया के अधिकांश देशों के सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे में और ज्ञान-परंपरा में तोड़फोड़ कर चुका था। इससे सब जगह उसी जैसी डेमोक्रेसी एवं कम्युनिज्म पर आधारित सर्व-नियामक राज्य व्यवस्थाएँ खड़ी हो गईं। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गाँधी जी को भी स्वतंत्रता का राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिए कांग्रेस का सहारा लेना पड़ा। गाँधीजी के आने से पहले कांग्रेस एक ऐसे राजनीतिक वर्ग का निर्माण करने में लगी थी, जो ब्रिटिश शासन को हटाकर भविष्य की राजनीति का अंग होने का सपना देख रहा था। इस राजनीतिक वर्ग की चिंता राज्य थी, समाज नहीं। उसका समाज से कोई जैविक संबंध नहीं बचा था। महात्मा गाँधी के अनुसार कांग्रेस उस समय वकीलों-डॉक्टरों आदि पेशेवर वर्गों का एक मंच थी, जो राष्ट्रीय भावना से प्रभावित अवश्य थे, पर उनमें अपने समाज और अपनी सभ्यता की अधिक समझ नहीं थी। मालवीय जी जैसे कुछ नेता इसका अपवाद अवश्य थे। लेकिन कांग्रेस की अपनी जड़े समाज में फैली हुई नहीं थी।

गाँधीजी इस राजनीतिक वर्ग को आरंभ से ही बहुत संदेह से देख रहे थे। 'हिंद स्वराज' में उन्होंने वकीलों-डॉक्टरों की खूब आलोचना की थी। कांग्रेस को अपने हाथ में लेकर उन्होंने सबसे पहला काम उसका आधार विस्तृत करने का किया। कांग्रेस के दरवाजे साधारण लोगों के लिए खोल दिए गए। फिर उन्होंने कांग्रेस को अपने चौदह सूत्री रचनात्मक कामों से जोड़ दिया। कांग्रेस के सभी लोगों के लिए चरखा और हरिजनोद्धार जैसे रचनात्मक काम अनिवार्य कर दिए गए। गाँधी जी इसके द्वारा कांग्रेस को भारतीय समाज से जोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके अलावा सत्याग्रह द्वारा वे राजनीतिक संघर्ष को नीति से, धर्म से तो जोड़ ही रहे थे। स्वतंत्रता का अभियान चलाते हुए राजनीति से बचा नहीं जा सकता था। लेकिन उन्होंने राजनीति को भारतीय सभ्यता की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न अवश्य किया था। लेकिन अंग्रेजों का शिक्षा तंत्र निरंतर पढ़े-लिखे लोगों को यूरोपीय विचारों में दीक्षित कर रहा था।



उसने राजनीति की दिशा भारतीय सभ्यता की ओर मुड़ने नहीं दी और 1947 में ब्रिटिश सरकार की विदाई केवल सत्ता परिवर्तन होकर रह गई।

महात्मा गाँधी के प्रयत्नों के बावजूद कांग्रेस एक यूरोपीय शैली का राजनीतिक दल बनी रही। उसमें राष्ट्रीय आंदोलन के तपे-तपाए और भारतीय संस्कारों में ढले बहुत से नेता थे। लेकिन अनेक संयोगों के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के समय सत्ता जवाहर लाल नेहरू के हाथ में पहुँच गई। वे यूरोपीय विचारों से अभिभूत थे और भारतीय सभ्यता और भारतीय समाज की न उनमें कोई समझ थी और न कोई निष्ठा। इसलिए उनके नेतृत्व में पुराने सभी रचनात्मक कामों को तिलांजलि दे दी गई। हमने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी एक सर्व-नियामक राज्य को स्वीकार किया था। ऐसे राज्य की भारतीय समाज में कोई स्मृति नहीं थी। इसलिए राज्य समाज से कोई संबंध नहीं बैठा पाया। राज्य को समाज से औपचारिक संबंध में जोड़े रखने का अवसर चुनाव है, जो दलीय प्रतिस्पर्धा के आधार पर संपन्न होता है। जवाहर लाल नेहरू ने चुनाव जीतने की जो रणनीति कांग्रेस को सौंपी, उसमें ब्राह्मण, हरिजन, आदिवासी और मुसलमानों को मिलाकर एक वोट बैंक बना लिया गया था। भौतिक शक्ति के विस्तार के साथ नए सामाजिक वर्गों में ऊर्जा आई। अनेक राज्यों में किसान जातियों का उभार हुआ। तमिलनाडु में निचली और मध्य जातियों को द्रविड़ आंदोलन के नाम पर राजनीति में संगठित किया गया। मुसलमान और ईसाई एक अलग राजनीतिक वर्ग में संगठित होने लगे। समाज को विभिन्न राजनीतिक वर्गों में बाँटकर उन पर नियंत्रण करने की शैली अंग्रेजों ने विकसित की थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वही प्रतिस्पर्धी दलीय राजनीति का आधार हो गई। समाज के राजनीतिक रूप से विभाजन का यह काम जिस राजनीतिक बुद्धि से हो रहा था, उसे दोष देने के बजाय हमारे सभी राजनीतिक दल, शैक्षिक संस्थान और संचार माध्यम जाति और धर्म की भारतीय संस्थाओं को दोष देने लगे। तोते की तरह रटा हुआ यह मूर्खतापूर्ण विलाप अब हमारी राजनीतिक भाषा का अंग हो गया है। सभी राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए जातीय समूहों और धार्मिक समूहों की गोलबंदी में जुटे रहते हैं। लेकिन इसके लिए वे राजनीति को नहीं कोसते, जातीय और धर्म के आधार पर होनेवाले सामाजिक संगठन को कोसते हैं।

भारत में समाज को अनेकविध संगठित रखने का प्रयत्न किया जाता रहा है। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। लेकिन उसका पूरा ढाँचा कुलों पर खड़ा हुआ है। स्थानीय स्तर पर व्यवस्थाओं का संतुलन बना रहे, इसके लिए कुलों को व्यावसायिक जातीय समूहों में निबद्ध किया गया। लेकिन जातियों का ढाँचा कभी बंद ढाँचा नहीं रहा। उसमें नए कुलों का आना-जाना लगा रहा। इसी तरह किसी जाति के सब लोग उसी व्यवसाय में रहे, यह कभी आवश्यक नहीं था। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार लोग जाति में रहते हुए भी अपना भिन्न व्यवसाय चुनते रहे।

जातियों में कुछ सामाजिक ऊँच-नीच रही। लेकिन वह कभी वैसी उत्पीड़क नहीं हुई, जैसा उत्पीड़न यूरोप की सामंती व्यवस्था में सदा भू-दासों के साथ होता रहा है। जाति अपने-आपमें सभी तरह के उत्पीड़न से बचाने का एक कवच रही है। यह भी याद रखना चाहिए कि जाति हमारे सामाजिक संगठन की सिर्फ एक और स्थानीय इकाई ही रही है। उसे क्षेत्रीय या बहुक्षेत्रीय स्वरूप पहले अंग्रेजों के कारण और फिर भारतीय राजनीति के कारण मिला। भौगोलिक स्तर पर मोहल्ला, गाँव, मंडल, जनपद, जनपदीय मंडल और देश आदि इकाइयाँ रही हैं। इन सबमें निष्ठा रखना और सबके हित की चिंता करते रहना ही हमारी परंपरा में सिखाया जाता रहा है। धार्मिक स्तर पर यही भूमिका संप्रदायों की रही है। यह सब भारतीय समाज को बाँधे रखने के साथ-साथ उसे गतिशील बनाए रखने के माध्यम रहे हैं। ऐसा नहीं है कि समाज की इन सब इकाइयों में प्रतिस्पर्धा न रही हो। पर वह प्रतिस्पर्धा मर्यादा से बँधी रही है। इसलिए कभी उसकी भूमिका सामाजिक एकता को तोड़नेवाली, नष्ट करनेवाली नहीं रही है। आज की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा हमारी सामाजिक एकता को तोड़ रही है, नष्ट कर रही है। यूरोप में जीवन को द्वंद्वात्मक प्रवाह के रूप में ही देखा गया। हेगेल में इसी विचार की परिपक्वता है। उसी से आज की राजनीति का स्वभाव बना है। हमें अपने सार्वजनिक जीवन का नियामक राजनीति को नहीं बनने देना चाहिए था। इसे हम अपने बौद्धिक वर्ग की दास बुद्धि न कहे तो क्या कहे कि वह राजनीति को श्रेष्ठ समझता है और समाज को एकता में पिरोए रखनेवाली संस्थाओं को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है।

हमारी सभी सांप्रदायिक, सामाजिक और भौगोलिक इकाइयों की भूमिका अपने-अपने क्षेत्र में विधि के निर्माण और परिपालन द्वारा शासन चलाते रहने की थी। यह सारी संस्थाएँ स्वशासी संस्थाएँ हैं, स्वराज्य की मूल इकाइयाँ हैं। आज भी अपना यह काम वे यथासंभव करती हैं। लेकिन हमारा यूरोपीय विचार पर आधारित राज्य उन्हें स्वशासन की अनुमति नहीं देता। राज्य सर्व-नियामक है, इससे सामाजिक संस्थाओं के दायित्व की हानि हो रही है। इसलिए उसे पूरा करने के लिए उन्होंने भी राजनीति में अपनी भूमिका बनानी शुरू की। उसका अवसर चुनाव ही होता है। हमारे समाज की छोटी-छोटी इकाइयों में सामूहिक रूप से निर्णय करने की अच्छी आदत थोड़ी-बहुत आज भी बची हुई है। उसके कारण चुनाव के समय जाति, गाँव या संप्रदाय की भूमिका प्रभावी हो जाती है। पर समाज में जातियों की, गाँवों की और संप्रदायों की बहुलता है। इसलिए कोई एक समूह अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाकर बाकी सबको नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं आ सकता। जबकि यह खतरा राजनीतिक दलों में बना रहता है।

राजनीतिक शक्ति के लिए राजनीतिक तंत्र और सामाजिक तंत्र में खींचतान चलती रहती है। राजनीतिक दल सामाजिक इकाइयों का उपयोग करने की कोशिश

करते हैं तो सामाजिक इकाइयाँ भी राजनीतिक दलों का उपयोग करने की कोशिश करती है। हमारे बौद्धिक विमर्श में राजनीतिक दलों की स्वीकृति है, सामाजिक इकाइयों की नहीं। हम निरंतर धर्म और जाति को गाली देते रहते हैं। सभी सामाजिक इकाइयों का मूल उद्देश्य नैतिक अनुशासन है। सभी राजनीतिक इकाइयों का मूल उद्देश्य शक्ति प्राप्त करने के लिए स्पर्धा करना है। शक्ति की इस स्पर्धा में राजनीतिक दल सामाजिक इकाइयों को भी एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करते रहते हैं। हमारे राजनीतिक दलों ने गाँधीजी से हरिजनोद्धार नहीं सीखा। अंग्रेजों की दलित राजनीति सीख ली। उन्होंने गाँधीजी से हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं सीखी, अंग्रेजों से मुस्लिम पक्षधरता सीख ली। उसकी प्रतिक्रिया में हिन्दू धुवीकरण हुआ। आज भारतीय उपमहाद्वीप में 55 करोड़ मुसलमान हैं। उनका हिन्दू समाज से राजनीतिक द्वेष हो गया है। 55 करोड़ मुसलमानों को हिन्दुओं से लड़ाने का काम राजनीति कर रही है। बहुसंख्यक हिन्दू इस पर कुड़ कर रह जाते हैं। 55 करोड़ मुसलमानों को आँख से ओझल नहीं किया जा सकता। लेकिन दोनों समुदायों के बीच की खाई को पाटने का तरीका भी किसी के पास नहीं है। इस्लाम की कुछ मान्यताएँ इस खाई को चौड़ा करने के काम आती हैं। इसलिए दोनों समुदायों के बीच वैमनस्य का दावानल सुलगता जा रहा है।

परंपरागत भारत में राज्य के कर्तव्य सीमित थे। शासन के अधिकांश काम सामाजिक संस्थाएँ करती थीं। यही स्वराज्य का, स्वशासन का आधार था। आज राज्य को पूर्ण-नियामक भूमिका दे दी गई है। पर समाज में उसके इस अधिकार की न स्वीकृति है, न राज्य के पास पूर्ण-नियामक होने के साधन हैं। यूरोप-अमेरिका आदि यूरोपीय जाति के देशों में यह साधन जुटा लिए गए हैं। वहाँ के लोगों में सदा ही एक पूर्ण-नियामक राज्य की स्वीकृति रही है। इसलिए वह चल जाता है। भारत में वह नहीं चल पा रहा। भारत में राज्य और समाज एक-दूसरे की बाधा बने हुए हैं। दोनों में खींचतान चलती रहती है। काम निकालने के लिए दोनों अनुचित तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। उसी से राजनीतिक और सामाजिक पतन की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। यह स्थिति सदा नहीं रहेगी। देर-सबेर भारतीय समाज की शास्त्रीय बुद्धि जागेगी, उसमें अपनी सभ्यतागत ऊर्जा प्रकट होगी। पर इसके लिए यूरोपीय तिलिस्म का टूटना आवश्यक है, यूरोपीय शक्ति का अवसान आवश्यक है। वह कितना प्राकृतिक रूप से होगा, कितना हमारे पुरुषार्थ से यह भविष्य बताएगा। अब तक हमारा अपकर्ष रहा है तो हमारा उत्कर्ष तो होगा ही। इसी विश्वास से हमें अपना मार्ग प्रशस्त करने में लगे रहना है, अपने धर्म में लगे रहना है।

## सही राजनीति का मार्ग

शंकर शरण\*

जो इस लेख में कहने का प्रयत्न है, उसे बहुतेरे लोग आदर्शवादी, काल्पनिक, नौसिखिया यानी अव्यवहारिक भी कह सकते हैं। इसलिए तनिक विचार करें—व्यावहारिक राजनीति क्या है?

क्या व्लादीमीर लेनिन की राजनीति व्यवहारिक थी, जिस ने 75 वर्षों तक रूस को विफल व्यवस्था, अपनी ही करोड़ों जनता का संहार और विविध अत्याचारों से बाँध रखा? उसी प्रकार, हिटलर, माओ, जिन्ना, खुमैनी, आदि कितने ही बड़े राजनेताओं की भी समीक्षा कर देखा जा सकता है कि उन की वास्तविक उपलब्धियाँ क्या रही हैं। यदि उन के मूल दावों, वायदों तथा वर्षों, दशकों की उन की सक्रियता की वास्तविक देन का मिलान करें, तो चकित रह जाना पड़ेगा कि उन की राजनीति कितनी बचकानी साबित हुई! वैसा क्यों हुआ, यह अलग विषय है, जिस पर इतना कहना यथेष्ट है कि वह मनुष्य, समाज, संस्कृति और राजनीति की गलत समझ का परिणाम था। इसीलिए उन देशों की जनता के लिए परिणाम वह हुए जिस में गर्व करने के लिए बहुत कम है।

सही राजनीति के लिए पहले राजनीति को उस के उचित स्थान पर रखना जरूरी है। समाज में मानवीयता और संस्कृति सब से मूल्यवान तत्व हैं। राजनीति इस के ऊपर नहीं, बल्कि अधीन रहे, तभी वह सन्मार्ग पर रह सकती है। अन्यथा वह स्वैराचारी होकर समाज को तहस नहस या बिगाड़ने का ही काम करेगी।

ऐसे भी कह सकते हैं कि मनुष्य की दो प्रकार की संपदा होती है। एक, जो वैयक्तिक स्वामित्व वाली है, दूसरी जो मुक्त तथा समाज के साथ साझी होती है। कपड़े, गहने, घर, आदि पहले प्रकार की और ज्ञान, कला, संगीत, सदभाव, प्रेम, सेवा, आदि दूसरे प्रकार की संपदा है। तदनुरूप, मनुष्यों में दो भाव या प्रवृत्तियाँ होती हैं स्वामित्व की (पजेशिव) और रचनात्मक (क्रियेटिव)।

\* सम्पर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-1110016

सुंदर मानव जीवन वह है जिस में रचनात्मक भाव का हिस्सा बड़ा हो और स्वामित्व का बहुत कम। यही वह कसौटी है जिस से सही राजनीति का स्थान और दिशा तय करनी चाहिए। जो राजनीति समाज में लोगों की रचनात्मकता को अधिकतम स्थान और सम्मान दे, उसे प्रोत्साहित करे और स्वयं को केवल जरूरी राजकर्म तक सीमित रखे, केवल वही राजनीति कल्याणकारी है।

इस मूल कसौटी के आधार पर हम भारतीय स्थिति पर विचार कर सकते हैं। लगभग चालीस वर्ष पूर्व कवि अज्ञेय ने 'समग्र परिवेश की राजनीति' शीर्षक अपने लेख में जिन बिन्दुओं को उठाया था, वह अभी भी सामयिक हैं। बल्कि यह उदाहरण भी है कि एक महान कवि की दृष्टि अनुभवी राजनेताओं की दृष्टि से अधिक दूर तक सामाजिक सचाइयों को देख पाती है। इसीलिए हरेक समाज में उन का स्थान कालजयी सा होता है। शासकों प्रशासकों का नहीं होता।

वर्तमान भारत में राजनीति का जितना विस्तार हुआ, वह अपने आप में एक समस्या है। सरकार, सरकारी संस्थान, राजनीतिक दल, दलबंदी, मतवाद, सरकारी नियम, कानून, टैक्स, अनुदान, आदि हमारे जीवन के हर क्षेत्र में घुस आए हैं। फलतः हम राजनीति के बोझ से दबे हुए हैं। यह भी नहीं देखा जाता कि इस से किसे, क्या लाभ हो रहा है अथवा कहाँ, कितनी हानि हो रही है।

इसी राजनीति में राजकमी बनने की भी आपा धापी है। क्या यह समाज सेवा या देश सेवा के लिए है? यदि हाँ, तो आपा धापी क्यों? यदि नहीं, तब भी वही प्रश्न उठता है, कि फिर आपा धापी क्यों? यह संकेत है कि यह सामान्य राजनीति नहीं, जो हमारे देश में कोने कोने में हावी हो गई है। जिस के लिए तरह तरह के लोगों में इतनी ललक या वितृष्णा है। यह एक विशेष प्रकार की, सत्ता की राजनीति, है।

निस्संदेह, ऋग्वेद काल से भारत में और ग्रीक चिंतकों के समय से यूरोप में यह माना जाता रहा है कि मानव सामाजिक व राजनीतिक प्राणी भी है। पर उस सामाजिक, राजनीतिक प्रकृति का मूल सत्ता की खोज या कामना कतई नहीं थी। अरस्तू ने मनुष्य को पोलिटिकल एनिमल कहा था, मगर उस का अर्थ सत्ताकामी पशु होना न था, जो आज की हमारी राजनीति में हो गया है। किसी तरह सत्ता पाना, फिर किसी तरह सत्ता में बने रहना, साथ ही उस का मनचाहा उपयोग दुरुपयोग करना—यही हमारी वर्तमान राजनीति की मूल प्रेरणा है। यह कल्याणकारी नहीं है। किसी के लिए कल्याणकारी नहीं है।

जैसा कि किसी कवि ने कहा था, मानव की मानवता मूलतः और सारतः उस की सर्जनधर्मिता में है और इस की पहली और मौलिक अभिव्यक्ति मूल्यों की सृष्टि में है। मनुष्य शेष पशु जगत से भिन्न केवल इसी एक बिन्दु पर है कि वह मूल्यों का निर्माण करता है। ऐसे मूल्यों का, जिस के लिए अपने को उत्सर्ग करना भी उसे सहज लगता है। अतः मनुष्य का राजनीतिक दर्शन उस की सृजनशीलता के महत्व, तथा

समाज और प्रकृति की समग्रता को देख सकने वाला होना चाहिए। समग्र परिवेश के साथ मनुष्य का जैसा संबंध सहज और वांछित होता है, उसी से सही सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक कर्म निर्धारित होता है; अथवा होना चाहिए। इस मूल कसौटी को किसी मतवाद, किसी दल या नेता के निजी विचारों, महान आदर्शों के सामने भी आँख-ओझल नहीं करना चाहिए। आज जिस तरह सारी दुनिया में 'विकास' की झक चल रही है, उसमें मनुष्यों के लिए तरह तरह की जरूरी, गैर जरूरी उपभोग की चीजें बनाने, बेचने और भोगने के सिवा किसी बात को महत्व नहीं दिया जाता। मानो मनुष्य केवल शरीर है, जिसे तरह तरह की चीजें चाहिए और इस शरीर को अधिकतम आयु तक बनाए रखना चाहिए। प्रायः संपूर्ण राजनीति भी इसी विचार से चलती है। इसमें मनुष्य की आत्मा, उस की आध्यात्मिक जरूरतों, संवेदनाओं, भावनाओं की उपेक्षा होती है। पर्यावरण की हानि उसी का एक कुफल है। उस के पीछे वही बचकानी समझ है, जिससे राजनीति भी चल रही है। मानो मनुष्यों की भौतिक जरूरतों की पूर्ति के सिवा प्रकृति के संसाधनों का और काम ही क्या है!

लेकिन समग्रता का दर्शन हमें टोकता है। क्या हमारा जीवन मात्र इसलिए है कि हम अपने परिवेश को खा पचा जाएँ, आस पास की समग्र प्रकृति को अपनी भूख में भस्म कर दें? सत्ता की चाह क्या हमें यह अधिकार देती है कि हम सब कुछ के साथ अंततः मनुष्य को ही खा जाएँ? या कि हमारी राजनीति की चिन्ता यह होनी चाहिए कि मानव के सतत अस्तित्व के लिए, मानव की उलब्धियों की रक्षा, संवर्द्धना के लिए, उस की चेतना के विकास के लिए आवश्यक संतुलन की खोज और स्थापना करें? मनुष्य और समाज के बीच, तथा समाज और प्रकृति के बीच संतुलन। हमारी भौतिक और आध्यात्मिक जरूरतों के बीच संतुलन। हमारी स्वामित्व प्रवृत्ति और रचनात्मक प्रवृत्ति के बीच संतुलन।

अतः सही राजनीति को बढ़ाने के लिए चिन्ता यह होनी चाहिए कि अब तक की भूलों का संशोधन और मार्जन कैसे किया जा सकता है? विकास के नाम पर अंधाधुंध आर्थिक गतिविधियों के अतिरिक्त और कौन कौन से कार्य हैं, जिनकी घोर उपेक्षा हुई है? ऐसी उपेक्षा जिससे स्वयं आर्थिक गतिविधियाँ भी लाभ के साथ-साथ भरपूर हानियाँ भी कर रही है। हम प्रकृति के विनाश के साथ साथ मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक हानियाँ। इसी पृष्ठभूमि में विचारना चाहिए कि; अपनी सामाजिक यात्रा की दिशा कैसे और किधर मोड़ें, उन्नति की अपनी अवधारणाओं में क्या परिवर्तन करें, किस प्रकार के सुधार, संरक्षण, पुनर्निर्माण या पुनर्प्रतिष्ठा की भी व्यवस्था करें।

इसके लिए संभव है कि ऐसे बिन्दुओं से आरंभ करना पड़े जो बड़े नगण्य जान पड़ें। लेकिन समग्र परिवेश से मानव के संबंध की सही समझ के आलोक में यह दीख जाएगा कि छोटे से बिन्दु से आरंभ कर के भी हम कार्य और सरोकार इतने दूर तक फैला सकते हैं जिसमें अपने देश से लेकर संपूर्ण मानव जगत और अंतरिक्ष तक समा

सकते हैं। यदि अपने छोटे कार्य बिन्दु की उपयोगिता पर संदेह हो तो हमें स्मरण कर लेना चाहिए कि विगत सौ सालों में क्रांतिवाद, समाजवाद, कम्युनिज्म, गाँधीवाद, इस्लामवाद, आदि बड़े बड़े, भड़कीले, व्यापक, मौलिक लगने वाले राजनीतिक दर्शनों और उन की कार्य योजनाओं ने कहीं क्या कर दिखाया है?

वैसे भव्य और महत्त्वपूर्ण लगने वाली राजनीति के अनगिन उदाहरण हैं। लेनिन और माओ के राजनीतिक विचारों को दशकों तक दुनिया के अनेक प्रबुद्ध लोग पूजते थे। लेकिन यह लेनिन ने कहा था, कि 'संस्कृति का नाम सुनते ही मैं अपनी पिस्तौल का घोड़ा तान लेता हूँ।' यानी, किसी मानवीय संस्कृति की बात करना लेनिनवादी राजनीति की नजर में एक संदिग्ध, दुश्मनी की चीज थी। लेनिन के लिए मनुष्य वर्ग-विभाजित है, अतः किसी मानव संस्कृति की बात करना ही बुर्जुआ छल है। यही लेनिनी राजनीति की बुनियाद थी, जिस में केवल एक प्रकार के मानव की जगह थी। दूसरे प्रकार के मानव को सामूहिक रूप से नष्ट होना था। इसी अंधविश्वास पर दुनिया भर में कम्युनिस्ट राजनीति सात-आठ दशक तक चलती रही और उसने करोड़ों लोगों का संहार किया। यह सर्वसत्तावादी राजनीति का केवल एक दुष्परिणाम था।

उसी प्रकार, यहाँ लोकतांत्रिक राजनीति के अंतर्गत भी, सत्ता की राजनीति तथा समाज में चहुँओर, हर क्षेत्र में राजनीति के दबाव के फल अच्छे नहीं हुए हैं। यह हमें देख, समझ सकना चाहिए। जहाँ और जिस हद तक विभिन्न प्रकार के राजनीतिक मतवादों ने अपनी सत्ता समाज पर थोपी है, उस के कुफल ही हुए हैं। भारत विभाजन से लेकर कश्मीर, असम, बंगाल आदि प्रांतों का अनुभव तथा मजहब, जाति, वोट-बैंक आधारित राजनीति ने समाज को कोई अच्छा परिणाम नहीं दिया है। फिर भी उसे बर्दाश्त किया जा रहा है, या कई राजनीतिक दलों द्वारा उन का उपयोग किया जा रहा है, तो क्या इसी को व्यवहारिक राजनीति समझना चाहिए?

हमारे देश और दुनिया में विविध गलत राजनीतिक विचारों, कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप आई विभीषिकाओं का सबक क्या है? यही कि सत्ता की राजनीति को ठुकराया जाना चाहिए। इस समझ को भी कि समाज के लिए हर जरूरी कार्य के लिए राजसत्ता और सरकार पर कब्जा करना जरूरी है। अथवा, हर सार्वजनिक काम मूलतः सरकार का काम है। तथा लोगों का काम है एक बार वोट देकर सरकार बनाना, और फिर निरंतर हर बात के लिए उसका मुँह देखना। यह गलत राजनीतिक समझ है।

सत्ता की राजनीति, और सर्वाधिकारवादी राजनीति को ठुकरा कर राजनीति का मानवीयकरण करना अनिवार्य है। राजनीति के केंद्र में सत्ता नहीं, मानव को प्रतिष्ठित करना जरूरी है। इस के लिए राजनीति की सीमा बाँधनी होगी। उसे नितान्त जरूरी कार्यों, राष्ट्रीय सुरक्षा, कानून और व्यवस्था, वित्त, विदेश संबंध, आदि के सिवा हरेक सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों से अलग करना आवश्यक है। पिछले सौ वर्ष में भारत में इसका उलटा होता गया है।

सामान्यतया हमारी राजनीति ने ही नहीं, हमारे सारे सार्वजनिक कर्म ने भी भारत के साहित्य की उपेक्षा की है। साथ ही उन भाषाओं की भी, जिनमें देश की साहित्यिक प्रतिभा अपने को व्यक्त करती रही है। यह राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के समय से ही दीख पड़ता है। जिस प्रकार, उदाहरण के लिए, गाँधीजी और नेहरू ने कवि निराला के साथ हीन व्यवहार किया था। बल्कि टोके जाने पर भी हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के प्रति अपने भ्रम व अहंकार को दूर नहीं किया, वह इसी का प्रमाण था कि वे साहित्य और संस्कृति को राजनीति से नीचे समझ रहे थे। यह बड़ी भारी गलती थी!

गाँधी नेहरू द्वारा की गई दूसरी कई बड़ी गलतियों का स्रोत ठीक इसी में था, कि वे स्वयं को राजनीति ही नहीं, धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, इतिहास और समाज—सबका आधिकारिक ज्ञाता समझते थे! यदि उन्हें राजनीति और समाज के सही संबंध का आभास होता, तो उन्होंने अनेक काम दूसरों को करने दिए होते, या संबंधित विषय के वास्तविक अधिकारियों से परामर्श कर तय किए होते। मगर वह नहीं हुआ, जो कुपरंपरा यहाँ की राजनीति में आज तक चल रही है।

स्वतंत्र भारत में भारतीय भाषाओं, साहित्य और शिक्षा की जो दुर्गति हुई, उसमें उस राजनीतिक अहमन्यता का सब से बड़ा दोष है। साहित्य और भाषा का समाज में क्या स्थान है, इसकी सही समझ रहने पर स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी का वर्चस्व कदापि न बढ़ा होता। तब क्या सुपरिणाम हुए होते, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

अतः यदि सही राजनीति का मार्ग ढूँढना है, तो इस छोटे प्रतीत होनेवाले बिन्दु पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। इस में बड़ी-बड़ी समस्याओं का समाधान छिपा है। इसमें किसी को आपत्ति नहीं होगी कि आज हमारा सार्वजनिक जीवन एक व्यापक दूषण से दूषित है, जिसे 'अंग्रेजी आभिजात्यवाद' कह सकते हैं। यहाँ अंग्रेजी के प्रति उच्चता का भाव और सत्ता की राजनीति के बीच घनिष्ठ संबंध है। इस स्थिति के रहते भारत में लोकतंत्र, समानता, न्याय, जन भागीदारी, आदि की बातें मात्र शब्द जाल हैं जिस में बोलने वाले और सुननेवाले दोनों एक समान बँधे हुए हैं।

यदि इस स्थिति को बदलना है, राजनीति को उसके उचित स्थान पर लाकर उसका मानवीकरण करना है, देश के व्यापक कल्याण की ओर ध्यान देना है, तो हमें हर हाल में (1) अंग्रेजी का मोह, अभिजात्य का अंधापन, छोड़ना होगा। तथा (2) भारतीय भाषाओं को अपनाकर उन्हीं को अपने सार्वजनिक जीवन और राजनीति का आधार बनाना होगा। यह दो बातें इतनी आरंभिक, बुनियादी हैं, कि केवल इसी की विस्तृत मीमांसा कर, तथा इससे संबंधित तथ्यों, विसंगतियों, समस्याओं का आकलन कर हम अपने देश के राजनीतिक परिदृश्य के कितने ही अंतर्विरोधों की पहचान कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए, जब तक सार्वजनिक शिक्षा, प्रशासनिक काम काज, कानून, न्याय प्रणाली, विचार विमर्श, आदि मूलतः लोगों की अपनी भाषा में नहीं होते, तब



तक शासन के विकेंद्रीकरण की बात कितनी खोखली है! केवल पंचायतों तक केंद्र से धन पहुँचा देना शासन का विकेंद्रीकरण नहीं है। वह तो नीचे तक लोगों को टुकड़खोर या परनिर्भर बनाने में भी बदल कर रह जा सकता है, यदि लोगों में सही चेतना न हो तो। अतः अपनी भाषा और साहित्य को मान सम्मान दिए बिना सत्ता का विकेंद्रीकरण भी पूरी तरह अव्यवहारिक रहेगा।

हमें समय रहते यह समझने की जरूरत है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में अंग्रेजी वर्चस्व की निरंतर बढ़त से भारत की सांस्कृतिक विविधता नष्ट हो रही है। यही नहीं, संस्कृति भी नष्ट हो रही है! वह भी इस रूप में कि अच्छे-अच्छे लोगों को इसका भान भी नहीं कि हमारी संस्कृति बिगड़ते, बदलते हुए पूरी तरह विजातीय रूप ले रही है। इसे रोकना सरकार से अधिक समाज की जिम्मेदारी है। सरकार ढर्रे पर काम करती है। उसके संचालक मुख्यतः चुनाव और वोटों की चिन्ता से चलते हैं। इसके अलावा टैक्स, कानून, सुरक्षा, विदेश संबंध, आदि उनकी नाना चिन्ताओं में ऊपर रहते हैं। अतः शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, भाषा, आदि पर सभी बुनियादी चिन्ता और उपाय मूलतः समाज का काम है।

यह अंग्रेजी के बहिष्कार का आवाहन नहीं है, केवल उसे उसके उचित आसन पर बिठाने की माँग है। उसके साथ जुड़ा हुआ (i) उच्चता, सत्ता का विशेषाधिकार भाव, (ii) जन गण से, भारतीयता से विलगाव, तथा (iii) हमारी धर्म संस्कृति से हमें लगातार दूर किए जाने की प्रक्रिया को रोकने की जरूरत है। इसके बिना कोई कल्याणकारी परिवर्तन असंभव है। नई पीढ़ी कथित अंग्रेजी शिक्षा के नाम पर जिस हाल में जा रही है, उच्च शिक्षा किस कदर तकनीकी प्रशिक्षण के सिवा लगभग कुछ नहीं रह गई है, और पूरा देश इसके प्रति आत्म-प्रवंचना में है—इसे समझे बिना उपर्युक्त बातों की गंभीरता नहीं समझी जा सकती।

इन सबके लिए जो समाधान खोजना है वह किसी सरकार को नहीं, हमें स्वयं करना है। समाज को जगना जगाना है। सरकार भी तभी उसके प्रति संवेदनशील होगी और यथोचित कदम उठाएगी। 'सरकार ही माई बाप है' वाली स्थापित भावना से मुक्त होना ही, हमारी वास्तविक स्वतंत्रता है। सब कुछ सरकार के माथे छोड़ना, फिर सरकार में अयोग्य लोगों का होना, और शासन का आकार विस्तारित होते जाना—यह सब अंततः हमारी हानि है। सबकी हानि है।

यदि उपर्युक्त विचार अव्यवहारिक जान पड़ें, तो याद करें कि देश विदेश में गत पूरी सदी की अधिकांश राजनीति क्या रही—वह किन कल्पनाओं से शुरू हुई, और उन सबका अंततः क्या बना? अतः बड़ी-बड़ी बातों की तुलना में ऐसी छोटी, नौसिखिया लगने वाली बातें, जिस में अपनी, सामाजिक पहलकदमी का प्रस्ताव हो, संभवतः अधिक व्यवहारिक हैं।

वस्तुतः हमारे देश की राजनीति में जो विडंबनाएँ दीख रही हैं, उनके प्रति भी पहले समाज को ही जगना, जगाना जरूरी है। राजनीतिक दल तो सत्ता की राजनीति

और स्वयं अपनी दलबंदी में ही उलझ कर रह गए हैं। अच्छे नेताओं को भी उनके दलीय बंधनों, विवशताओं, उठा-पटक से मुक्त होना जरूरी है। यानी, राजनीति में दलबंदी को घटाना और राष्ट्रीय हितों, लोककल्याण को ही नेताओं की परख, योग्यता की कसौटी बनाना। विधान सभाओं और संसद में राजनीतिक दलों की पहचान से ऊपर उठकर विमर्श करना—जैसा यूरोप, अमेरिका में है, लेकिन जिनकी व्यवस्था की नकल करके भी हम ने उसके तत्व पर ध्यान नहीं दिया, इसे सुधारना होगा।

दलीय हित व दबाव को हमारी संसद व विधान सभाओं से बाहर करना होगा, जैसा मूल भारतीय संविधान की भावना भी थी। यह तो सन् 1985 में, 92वें संशोधन द्वारा कथित दल बदल कानून बनाकर राजनीतिक दलों को संविधान और संसद में अधिकार दिलाया गया। यह हानिकारक सिद्ध हुआ है। यह किसी दल विशेष और उस के नेता के हित में किया गया था। किसी राष्ट्रीय हित या जन कल्याण से इस का कोई संबंध न था। उस विकृति को दूर करना होगा।

संसद और विधान सभाओं में दलीय आदेशों को प्रमुखता देने के कारण ही अब संसद, विधान सभाएँ अपना काम नहीं कर पा रही हैं। यह जगजाहिर है। संसद ठप, विधान सभा ठप, स्थगित—यह सब प्रायः दलीय हितों के लिए होता है, किसी दल को गिराने और दूसरे को उठाने के लिए होता है, जनता या देश की जरूरतों की पूर्ति के लिए नहीं होता। यदि इस विडंबना को पहचान कर भी इसका उपय न किया गया, तो पूरा राजनीतिक तंत्र जनता के लिए बोझ अधिक, उपयोगी कम बना रहेगा।

अतः दलों की तुलना में व्यक्तियों को राजनीति का जिम्मेदार मानना, बनाना ही उचित है। यही यहाँ मूल संविधान की भावना भी थी। यही पश्चिमी लोकतंत्रों में भी है। यह कम खर्चीला, नेताओं के लिए भी कम सिरदर्द, नेतृत्व में सरलता से परिवर्तन तथा नए-नए योग्य व्यक्तियों के राजनीति में आ सकने के लिए भी उपयुक्त है। सुपात्र को अवसर और उत्तरदायित्व मिलने पर कई बार विकट लगने वाली राजनीतिक, प्रशासनिक समस्या बिना किसी कठिनाई के सहल हो जाती है। जरूरत है वैसे सुपात्रों को ढूँढ़ कर उन्हें उत्तरदायित्व देने की। अतः प्रशासन और पुलिस व्यवस्था में सुधार, पक्की जबाबदेही, तदनुरूप प्रोन्नति या अवनति की व्यवस्था तथा भ्रष्टाचार संबंधी दंड में कड़ाई, आदि तभी हो सकते हैं जब संसद, विधान सभाओं में दलीय प्रतिबद्धता से परे रहकर विचार विमर्श हो। इसके लिए जनमत का दबाव बनाया जाना चाहिए।

यह तभी हो सकता है, जब एक लोकचेतना उभरे कि वैसा होना चाहिए। राजनीति को समाज के अधीन बनाना, तथा दलीय हितों को संसद व विधान सभाओं से बाहर करना। ऐसा करना हमारा समाज का काम है, सब का काम है, जिससे हमारा कल्याण और आत्म गौरव जुड़ा है। एक बार यह भावना हममें घर करने लगे तो मार्ग अपने आप मिलता जाएगा।

## भारत में संसदीय लोकतन्त्र की सीमाएँ

---

उदयन वाजपेयी

1

देश की आजादी का क्षण कुछ उलझा हुआ था। हम एक ओर आजाद हुए थे और उसी के साथ विभाजन के शिकार भी। यह विभाजन सिर्फ भौगोलिक भर नहीं था, जमीन के बँटवारे जैसा कुछ, बल्कि यह ऐसा था मानो भारत की सांभ्यतिक जीविविषा में ही दरार आ गई हो। हमें एक ओर स्वतन्त्र होने की खुशी थी, पर साथ ही विभाजित हो जाने का दंश भी उस खुशी में फाँस की तरह धँसा हुआ हमें लगातार पीड़ा पहुँचा रहा था। वे सारे विभाजन जो अँग्रेजी शासन ने बड़े जतन से पिछले अनेक दशकों से देश के, समाज के, किए थे, अपना हिंस्र रंग दिखा रहे थे नव स्वतन्त्र भारत का शासनतन्त्र इसी हिंसा की आग से देश को बाहर निकालने में जुटा था। इस सब के बीच देश के स्वतन्त्र राजनीतिक व्यवस्था के विषय में कोई गहन विचार कम-से-कम उन वर्षों में सम्भव नहीं जान पड़ता था। स्वतन्त्रता के पहले महात्मा गाँधी की पहल पर लम्बे समय तक सेवाग्राम, वर्धा में कुछ विचारकों और स्वराज के प्रति निष्ठावान व्यक्तियों की एक समिति गठित की गई थी। यह गाँधी सेवा संघ नाम से जानी जाती थी। गाँधी सेवा संघ का काम देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति पर विचार करना था। इसका अर्थ यह था कि उस समिति से यह अपेक्षा थी कि वह देश की प्रजा की प्रकृति के अनुसार ऐसी संस्थाओं और व्यवस्थाओं की निर्मिति का सुझाव दे, जिससे अँग्रेजी राज के खत्म होने के बाद देश का कार्य सुचारु रूप से चले और यहाँ अँग्रेजी राज के दौरान विपन्न हो गई प्रजा को दोबारा शक्ति सम्पन्न करने की दिशा में काम-काज हो सके। गाँधी जी और इस समिति का यह विश्वास रहा होगा कि भारत में लोकतन्त्र को व्यापक और व्यावहारिक बनाने के लिए वे रास्ते काम के नहीं हैं, जो आधुनिक यूरोप ने अपनाये हैं। इन रास्तों से स्वयं यूरोप में जो लोकतन्त्र

---

\* लेखक एवं सम्पादक 'समास' हिन्दी पत्रिका, सम्पर्क : एफ90/45 तुलसी नगर, भोपाल-462003  
(म.प्र.) फोन : 0755-2556940

अस्तित्व में आया है, उसे ही किस हद तक लोकतन्त्र कहा जा सके, इस पर स्वयं गाँधी जी ने ही 'हिन्द स्वराज' में प्रश्न उठाया है? इस समिति ने लगभग 1942 तक अपना काम किया, पर फिर कुछ बड़े राजनेताओं के आग्रह के कारण इस समिति को निरस्त करना पड़ा।

यह छोटी-सी कहानी कहने के पीछे यह आशय है कि जब हमारा देश स्वतन्त्र हुआ, हमारे पास इस देश की व्यवस्थाओं को सक्रिय करने की सम्भवतः कोई भी अपनी तरह की योजना नहीं थी। हमारे अधिकांश राजनेता और पढ़े-लिखे लोग यह मानकर चल रहे थे कि हमारा देश भी उसी रास्ते पर चलेगा, जिस पर चलकर यूरोप ने तथाकथित लोकतान्त्रिक मूल्यों को तथाकथित रूप से साकार किया है और उसे व्यवहार में ला सका है। उस समय तक संसदीय लोकतन्त्र की तीखी आलोचना करने के बाद भी, संसदीय लोकतन्त्र की सीमाओं को उद्घाटित करने के बाद भी महात्मा गाँधी ने 'फिलहाल' संसदीय लोकतन्त्र को स्वीकार करने की अनुमति दे दी। शायद उनकी शक्ति तब तक इतनी बाकी भी नहीं थी कि अगर वे इसे अस्वीकार करते तो इससे कोई बहुत फर्क पड़ता। इतना अवश्य है कि देश के आजाद होने के बाद भी महात्मा गाँधी देश के भविष्य की राजनीतिक व्यवस्था पर विचार-विमर्श करते रहे। इसी के फलस्वरूप 29 जनवरी 1948 की रात को उन्होंने काँग्रेस पार्टी के सम्भावित संविधान का एक प्रस्ताव तैयार कर उसे पण्डित जवाहरलाल नेहरू को भिजवा दिया था। यह सिर्फ काँग्रेस पार्टी का ही सम्भावित संविधान नहीं था, बल्कि यह उस समय या उसके बाद की सभी राजनीतिक पार्टियों की भारत जैसी सभ्यता में भूमिका को रेखांकित करने का एक ऐसा वैचारिक प्रस्ताव था, जो उसके बाद किसी और ने नहीं किया। इस संविधान में राजनीतिक पार्टी को स्वयं सेवी संस्था की तरह कार्यरत होने की प्रस्तावना थी।

## 2

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय न तो हमारे राजनेताओं और शक्ति सम्पन्न लोगों के पास स्वतन्त्र देश को अनु-शासित करने का कोई नक्शा था और न ही देश की स्वतन्त्रता के पुरोधा महात्मा गाँधी देश में यूरोप की तरह का संसदीय लोकतन्त्र चलाने के पक्ष में थे। यह समझ जाने के बाद कि उन्हें स्वयं राजनीतिक दल ने किसी हद तक दरकिनार कर दिया है और यह भी कि उनके न मानने से देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल में शायद फूट पड़ सकती है, उन्होंने कुछ समय के लिए संसदीय लोकतन्त्र को स्वीकृति दे दी। यह बात अलग है कि उस समय तक भारतीय शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व गाँधी नहीं, सरदार पटेल और पण्डित नेहरू कर रहे थे और वे दोनों ही देश में संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना के पक्षधर थे।

अब से लगभग 110 वर्ष पहले लिखे 'हिन्द स्वराज' में महात्मा गाँधी ने संसदीय लोकतन्त्र के विषय में जो शंकाएँ प्रकट की थीं, वे हमारी पिछली लगभग 70 वर्ष की राजनीति ने सही सिद्ध की हैं। उन्होंने लिखा था :

वह पार्लियमेंट तो बांझ और वेश्या है। ये दोनों शब्द कड़े हैं, लेकिन उस पर सही लागू होते हैं। मैंने बांझ कहा क्योंकि स्वयं से पार्लियमेंट ने आज तक एक भी अच्छा कार्य नहीं किया। यदि उस पर दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, यही उसकी स्वभाविक रीत है।...पार्लियमेंट को वेश्या का नाम दिया, वह सही भी है। उसका कोई स्वामी नहीं है। उसका एकमात्र स्वामी हो ही नहीं सकता। परन्तु मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं। जब कोई उसका स्वामी बनता भी है—जैसे प्रधानमंत्री—तब भी उसका चलन एक सरीखा नहीं रहता। जैसे बेहाल वेश्या के होते हैं, वैसे ही सदैव पार्लियमेंट के भी। प्रधानमंत्री पार्लियमेंट की चिंता कम ही करते हैं। वह तो सत्ता की धुन में मस्त रहते हैं। उनकी मात्र एक लगन है, उनका पक्ष कैसे जीते। पार्लियमेंट सही कार्य कैसे करे, उसकी चिंता उन्हें नहीं रहती। अपने पक्ष को मजबूत करने की खातिर प्रधानमंत्री पार्लियमेंट से तरह-तरह के काम करवाते हैं। ऐसे उदाहरण आप जितने चाहो मिल जाएँगे। यह सब विचार करने लायक है।

क्या पिछले लगभग 70 वर्ष से हम अपनी अनेकानेक सरकारों का ठीक यही चलन नहीं देख रहे? क्या कोई भी ऐसी सरकार देश में अब आ सकी है, जो गाँधी जी की कही इन बातों को पूरी या अधूरी तरह ही झूठा साबित कर सके? यहाँ समझने की बात यह है कि हमारी सरकारें उन रास्तों पर इसलिए चलती रहीं, क्योंकि संसदीय लोकतन्त्र का रास्ता हमारे देश के लिए (और गाँधी जी की दृष्टि में खुद यूरोप के लिए भी) अनुपयुक्त था और है। इसी संसदीय लोकतन्त्र के चलते ही हमें राजनीतिक दलों की आवश्यकता होती है। (राजनीतिक पार्टी की अवधारणा को सर्वप्रथम मेक्यावेली ने परिभाषित किया। संगठन और संस्था के इतिहास में यह एक अद्भुत नए राजनीतिक यथार्थ को इंगित करती है। इसका जीवन काल निजी अस्तित्व से परे और ऊपर होता है। उसकी आधार भूमि अनिवार्यतः सीमित, सदैव सार्विक से कम, किन्तु इसकी आकांक्षा है राज्यसत्ता को एक ऐसा उपकरण बना पाना जो निजी और आंशिक हित-स्वार्थ को पार कर सार्विक यथार्थ की रचना कर सके। 'हिन्द स्वराज' के मूल गुजराती पाठ के सुरेश शर्मा और त्रिदीप सुहृद हिन्दी अनुवाद की पृष्ठ-14 की पाद टिप्पणी से) राजनीतिक दलों को क्रियाशील रहने के लिए अनिवार्यतः धन की आवश्यकता होती है (जिसके विषय में पिछले अनेक वर्षों से लगातार बिना किसी निष्कर्ष के बहस होती रहती हैं) जिसके लिए उन्हें स्रोत जुटाने पड़ते हैं। हमारे देश में राजनीतिक दलों की स्थितियाँ इससे भिन्न नहीं हैं। इसका कोई भी राजनीतिक दल अपवाद नहीं है, हो भी नहीं सकता। इस वित्तीय स्रोत के स्वार्थों को साधने के अलावा

राजनीतिक दलों के पास कोई और रास्ता नहीं रहता। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारे राजनीतिक हलकों में किसी राजनीतिक दल का किसी कापॉरेट घराने से, किसी का किसी और कापॉरेट घराने से सम्बन्ध बनाया जाता रहता है। इससे बाहर निकलने का रास्ता यह नहीं है कि चुनावों को सरकारें वित्तीय सहयोग देना शुरू कर दें। ऐसा करने पर चुनावों के बीच के वर्षों में ऐसी पार्टियाँ कहाँ से धन जुटाएँगी, जिनके अपने कार्यकर्ता इन वर्षों में लगातार चुनाव की तैयारी में लगे रहते हैं। क्या उनका खर्च भी सामान्य जनता के जेब से ही जाएगा? ऐसा कुछ न अब तक हुआ है, न उसके होने के लिए जो वैकल्पिक व्यवस्थाएँ बनाना चाहिए, वे बन सकी हैं। यहाँ यह जोड़ते चलना शायद अर्थपूर्ण हो कि हमारे देश की राजनीतिक व्यवस्था कर्म से कहीं अधिक 'शब्दों' से काम लेती है। हमारे राजनेता बोलते अधिक हैं, करते बहुत कम है। वे शायद यह भुला बैठे हैं कि राजनीति में कर्म ही संवाद का माध्यम है। कर्म ही उसकी सफलता का प्रमाण।

#### 4

हमने पिछले सात दशकों में सत्ता में रहे राजनीतिक दलों की आलोचना की है और यह ठीक भी है। संसदीय लोकतन्त्र में कभी भी, कोई भी ऐसी सरकार नहीं बन सकती, जो सामान्य जन की तमाम समस्याओं का निदान करने की स्थिति के आस-पास भी आ सके। हमारे समाज और राजसत्ता के बीच जो विराट अंतराल पिछली अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है, उसे पाटने की सामर्थ्य और आकांक्षा किसी राजनीतिक दल ने आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुई। यह अन्तराल ही आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था की विफलता का कारण है। पर इस कारण को दूर करने की चेष्टा किसी राजनीतिक दल ने नहीं की। ऐसी स्थिति में किसी भी सच्चे विचारवान व्यक्ति का यह धर्म है कि वह सत्ता और जनता के बीच के अंतराल के कारण निरन्तर बनी समस्याओं को रेखांकित करें। इस अन्तराल को संसदीय लोकतन्त्र की व्यवस्था में खत्म किया ही नहीं जा सकता पर उसे निरन्तर आलोकित करना संसदीय लोकतन्त्र को किसी हद तक जनोन्मुखी बनाने की एक तरह की 'हारी होड़' है या राममनोहर लोहिया के शब्दों में कहें कि निराशा का कर्तव्य है। पर इस कर्तव्य के निभाने से संसदीय लोकतन्त्र को पूरी तरह क्रियाशील और भारतीय समाज के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता।

#### 5

भारत का समाज सामासिक समाज है। इसमें शताब्दियों से अनेक सम्प्रदाय अपनी-अपनी विशिष्ट पर अन्य सम्प्रदायों से जुड़ी हुई परम्पराओं के सहारे जीवन बिताते रहे हैं।

भारत की सभ्यता, भारत में व्यूह किसी भी धर्म से अधिक व्यापक है और यह भारत के सभी धर्मों में या जिन्हें हम मजहब कहते हैं, उनमें भी प्रकट होती है। कई जगह यह आसानी से पहचान में आती है, कई जगह इसे पहचानने में किंचित अधिक तीक्ष्ण दृष्टि की आवश्यकता होती है, पर भारत में ऐसा कोई समुदाय नहीं, जिसमें किसी हद तक, बल्कि जिसके अंतस् में भारतीय सभ्यता का आलोक प्रकट न होता हो। अंग्रेजों की तरह ही स्वतन्त्र भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने भारतीय सभ्यता के इस व्यापक प्रकटन को स्वयं भारतीयों की चेतना से ओझल करने का महती प्रयास किया है। इसी आधार पर वे भारत को विभिन्न समुदायों में बाँटकर दिखाने और उन समुदायों में मतभेद और द्वन्द्व उत्पन्न करके अपनी शान्ति को बढ़ाने के प्रयास में जुटे रहे हैं। इनमें फर्क केवल इतना भर था कि इन्होंने इस प्रकटन को अलग-अलग रास्तों से जनता की आँखों से ओझल किया।

## 6

यूरोप में मध्यकाल को अंधकार युग जाना जाता है। यह वह समय था, जब यूरोप की ईसाईयत का यूरोपीय समाज पर इतना अधिक दबाव था कि यूरोपीय मनुष्य के स्वातन्त्र्य का क्षेत्र निरन्तर संकुचित होता गया था। यह लम्बी कहानी है इसे इतना कहना पर्याप्त है। रेनेसाँ के बाद यूरोप ने ज्ञान का मुक्त क्षेत्र विकसित होने की शुरुआत हुई और नया राजनीतिक चिन्तन भी शुरू हुआ। पर इस सबके दौरान यूरोप का मनुष्य पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में अकेला होता गया है। परिवार यूरोप में वैसे भी सशक्त इकाई मध्ययुग के आते-आते नहीं रह गये थे। पर आधुनिक यूरोप में समुदायों का भी विघटन हुआ। यूरोप का उपन्यास इसीलिए व्यक्ति का पुराण (सागा ऑफ द इन्डिविजुअल) कहा जाता है। इसके बरअक्स भारत में आज तक परिवार एक पर्याप्त शक्ति सम्पन्न इकाई बनी हुई है। मैं सोचता हूँ कि एक ऐसा समाज, जिसमें परिवार एक महत्वपूर्ण इकाई हो, आधुनिक राजसत्ता सफल नहीं हो सकती। आधुनिक राजसत्ता के सफल होने में परिवार का शक्ति-सम्पन्न होना बाधक है। इसका अर्थ यह है कि जिस समाज में परिवार महत्वपूर्ण इकाई हो उसके लिए किसी और तरह की शासन प्रणाली की खोज की जानी चाहिए।

परिवार के भीतर ही अधिकतर भारतीय मनुष्य अपने को सक्रिय महसूस करता है। उसके प्रति ही उसकी निष्ठा हुआ करती है। इसी निष्ठा के सहारे ही वह देश के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त कर सकता है। पर जब देश को ऐसी राजसत्ता शासित करती हो, जिसका परिवार से कोई सम्बन्ध ही न हो तो देश प्रति यह निष्ठा खण्डित हो जाती है। परिवार और देश अलग-अलग छिटक जाते हैं। बल्कि उनके स्वार्थ एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं। अगर भारतीय मनुष्य अपने परिवार के प्रति निष्ठा

को निभाने की कोशिश करता है तो उसे उसकी खातिर देश के प्रति अपनी निष्ठा को अपेक्षाकृत कमतर करना होता है। मेरी समझ से सार्वजनिक धन की लूट का यही आधार है। हमारे नागरिकों के मन में सगुण इकाई परिवार के प्रति जिस कोटि की निष्ठा है, वह राजसत्ता और उसी के कारण देश के प्रति नहीं बन पा रही। यह नहीं कि वह देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाना नहीं जानता, पर इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए उसे किस तरह की व्यवहारिकी निभानी चाहिए, इस विषय में वह अनिश्चित है। देश को नागरिकों के समक्ष सगुण बनाने के लिए जो उपक्रम आवश्यक हैं, वे संसदीय लोकतन्त्र के चलते सम्भव नहीं हो पाते। यह इसलिए है, क्योंकि संसदीय व्यवस्था में शक्ति का संचार परिवार से गाँवों, गाँवों से जनपद, जनपदों से नगरों, नगरों से राजधानी तक नहीं होता। इस व्यवस्था में इन तमाम जगहों से शक्ति का आहरण कर संसद को सौंप दिया जाता है। इसीलिए सामान्य नागरिक संसद को अपनी प्रतिच्छवि के रूप में नहीं देखता। इसीलिए उसकी निष्ठा जगह-जगह खण्डित होती रहती है और यही स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की राजनीति के निरन्तर विफल होने का महत्वपूर्ण कारण है।

## 7

महात्मा गाँधी इस दृष्टि से देश के एक मात्र विचारक थे, जिन्होंने इस समस्या को समझा और उसके निदान पर किसी हद तक सोचा और उसे प्रस्तावित किया था। आज यह कहना कि हम ठीक उसी प्रस्ताव को देश की राजनीतिक व्यवस्था पर लागू कर सफल हो सकते हैं, उचित नहीं है। हमें कुछ दूसरा रास्ता, जिसमें गाँधी का सुझाया रास्ता भले न हो, पर उनका दिया आलोक अवश्य हो, खोजना चाहिए। वरना राजसत्ता और प्रजा के बीच पड़ी और ठहाके मारती यह खाई कभी दूर नहीं होगी। राजसत्ता और सामान्य जन के बीच के अन्तराल को कभी सोशल मीडिया अपने अविवेकपूर्ण और किन्हीं राजनीतिक स्वार्थों को बढ़ावा देने की खातिर पाटने दिखावा करके सामान्य जन को राजसत्ता की ओर से छलता रहेगा, कभी यहीं कार्य अखबार और टेलीविजन करेंगे। और हम राजसत्ता को निरंकुश होने से रोक नहीं सकेंगे।



## गाँधी का पुनरागमन एवं गाँधीवादी राजनीति का भविष्य

रामचन्द्र प्रधान\*

आज गाँधीवादी वैचारिक राजनीति एक विसंगति के दौर से गुजर रही है। एक तरफ तो गाँधी के जीवन, कर्म और विचार विश्व स्तर पर गहन विचार-विमर्श हो रहा है। दूसरी तरफ गाँधीवादी वैचारिक राजनीति अपने देय में संगठनात्मक स्तर पर बिखरती जा रही है। इसका एक बड़े सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक स्वरूप धारणा करना तो एक दूर की बात लग रही है। गाँधीवादी विचार की वाहक बनी संस्थाएँ अपनी प्राणवायु खाते हुए प्रायः मृतप्राय होती जा रही हैं। इस संदर्भ में कई प्रश्न विचारणीय लगते हैं। गाँधी विचार का विस्तार और दूसरी तरफ उसका संगठनात्मक क्षरण क्यों हो रहा है? इस विसंगति का सामना गाँधीवादी आन्दोलन कैसे कर सकता है। इसकी सम्भावना कितनी दिखती है? क्या आज की राजनीति के सन्दर्भ में गाँधीवादी राजनीति की कोई भूमिका रह गई है? अथवा वह बिल्कुल अप्रासंगिक हो गई है? इसको आज के सन्दर्भ में प्रासंगिक बनाने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है? इन सारे प्रश्नों पर इस लेख में विचार करेंगे।

सबसे पहले गाँधी विचार के विस्तार पर दृष्टिपात करें। गाँधी से जुड़े लेखन पर मानो बाढ़ सी आ गई है। इसका बाजार भी फैलता जा रहा है। देश-विदेश के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इसे समाहित भी किया जा रहा है। इतना, समाजशास्त्र के विभिन्न विभागों में इस सम्बन्ध में एक होड़-सी लगी हुई है, राजनीतिशास्त्री, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, मनोविज्ञान भासी आदि सभी इसमें जुटे दिख रहे हैं। वातावरण से जुड़े विद्वान तो उनको अपना पुरोधा पुरुष ही मानने लगे हैं। यही नहीं, शान्तिमय विद्रोह और परिवर्तन का आन्दोलन विश्व में जहाँ कहीं भी उभर रहा है, इसमें किसी न किसी प्रकार से गाँधी का नाम जुड़ा दिखता है। इसका रहस्य क्या है? इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए।

---

\*गाँधी विचार परिषद, वर्धा महाराष्ट्र, फोन : 09311842482; Email: pradhanramchandra@gmail.com

लेकिन इसके पहले एक सैद्धान्तिक प्रश्न पर विचार करना ज्यादा समीचीन होगा। वह प्रश्न है—आखिर किसी व्यक्ति और उसके विचार की महत्ता एवं मान्यता इतिहास क्रम में कब होती है, होने लगती है? हम जानते हैं कि हर विचारक में ‘क्षण’ और शाश्वत दोनों का अंश होता है। कभी-कभी इतिहास में ‘क्षण’ का इतना महत्त्व होता है कि उसकी दबंग आवाज अपने समकालीनों को हद से पार जाकर प्रभावित और उद्वेलित करती है, लेकिन वह कालबाध्य, क्षेत्रबाध्य एवं सन्दर्भ बाध्य होती है। कुछ दिनों बाद वह काल प्रवाह में दह-बह जाती है। वह इतिहास के गर्त में चली जाती है अथवा उसकी घाटी से टकरा कर वह बुरे सपनों के रूप में मानव जाति के सामने आती है। हिटलर और बगदादी जैसे लोग इस श्रेणी में शामिल हैं। लेकिन इतिहास में एक दूसरी तरह के भी लोग होते हैं। उनकी आवाज एक युगीन भी होती है और सर्वयुगीन भी। क्योंकि उनमें क्षण और शाश्वत का एक अद्भुत समन्वय होता है। इसे ही इतिहास पुरुष और भाग्य पुरुष कहते हैं। जैसे महाभारत के कृष्ण। वे एक ही साथ अर्जुन के सारथी रूप में काम करते हैं, और उसी कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में गीताज्ञान का उद्घोष भी करते हैं। वह ज्ञान हर युग के सत्यार्थी अर्जुन के लिए प्रासंगिक रहता है। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति और उसके ज्ञान का द्वितीय आगमन ज्यादा जोरदार होता है। बाइबल में ईसा मसीह के पुनः आगमन की बात कही गई है। इसमें मुझे कोई देवी कृति की रहस्यमयता नहीं दिखती। इसको पूरी तरह इहलोकवादी दृष्टि से समझा जा सकता है। इस समय तक उसकी लोकमान्यता स्थापित हो चुकी होती है। इसलिए उसका पुनः आगमन इतना जोरदार और शानदार होता है। गाँधी के साथ कुछ ऐसा ही हो रहा है।

इतिहास से हम जानते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते होते यह बात लगभग तय हो चुकी थी कि भारत शीघ्र आजाद होगा। लेकिन इसके साथ ही गाँधी भारत की राजनीति की परिधि पर भी परिधि पर भी ढकेले जाने लगे थे। 1945 में हुए गाँधी-नेहरू पत्राचार से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी कि स्वतंत्र भारत में गाँधी विचार को ज्यादा अहमियत नहीं दी जाएगी। भारत के संविधान निर्माण में भी गाँधी विचार ज्यादा तरजीह नहीं दी गई। यह बात भारत विभाजन के सन्दर्भ में भी देखी जा सकती है। गाँधी स्पष्ट रूप से भारत विभाजन के खिलाफ थे। लेकिन उनकी एक नहीं सुनी गई और भारत विभाजन की बात कांग्रेस के नेताओं ने मान ली। अतः गाँधी की शहादत के पहले ही वे अपने शिष्यों द्वारा वैचारिक स्तर पर नकारे जा चुके थे। इससे भी बड़ी बात हुई कि उनके अपने आश्रमी और आध्यात्मिक शिष्यों के अलावा उनकी इस वैचारिक अस्वीकृति के विरुद्ध देश के स्तर पर कोई आवाज भी नहीं उठी। इस बात की उस समय के गाँधीवादी लेखन में भी देखा जा सकता है। उसमें संत और महान पुरुष के रूप में ज्यादा चर्चा थी और विचारक के रूप में कम।

उनके विचारों के आधार पर एक नई सम्यग-संस्कृति का तानाबाना बुना जा सकता है, यह बात लोगों के मन-मस्तिष्क में नहीं आ रही थी। लेकिन आज उनके चिंतन और विचार पर ज्यादा लेखन हो रहा है।

अतः प्रश्न है कि तब और अब में इतना फर्क क्यों हो रहा है। मेरी अपनी समझ में इसका कारण उनके शिष्यों की अवसरवादिता में नहीं देखा जाना चाहिए। बल्कि पश्चिमी सभ्यता के वर्चस्व में इसका कारण ढूँढ़ा जाना चाहिए। उसकी कोख से निकली दोनों विचारधाराएँ—उदारवाद और मार्क्सवाद, अपनी युवा अवस्था में थी। दोनों अपने-अपने ढंग से बुने सपने से देश-दुनिया को सम्मोहित कर रही थीं। आगे की तरह उनकी पोल नहीं खुल चुकी थी। उनकी समाज परिवर्तन की क्षमता और संभावना पर प्रश्न चिह्न नहीं लगा था। वस्तुतः यूरोप के नवजागरण की क्रान्ति की ही दोनों विचारधाराएँ उपज थीं। उस इहलोकवादी दृष्टि को Rebornmotion और Enlightenment द्वारा और बल मिला था। सब मिलाकर उस विश्व दृष्टि में मूल बात थी—ब्रह्मांड में मनुष्य की एक विशिष्ट स्थिति; परलोकवादिता के स्थान पर इहलोकवादिता, विश्वास के स्थान पर मानव बुद्धि को प्रतिष्ठित करना, विज्ञान और तकनीकी के माध्यम से प्रकृति विजय करना और समाज की शक्तियों को छीनकर राज्य की संस्था में समाहित करना। आगे चलकर हाब्स और लाक ने मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष को नकारते हुए उसके स्वार्थपरक स्वरूप को बल दिया। इस प्रकार मनुष्य अन्य प्राणियों से अपने को अलग समझकर प्रकृति के सभी संसाधनों का मालिक बन बैठा। प्रकृति के संसाधनों का अधिकतम दोहन कर, अधिकतम धर्मापार्जन करना और उसके माध्यम से सुख-सुविधा भोगना उसके जीवन का परम साध्य बन गया। इस रूप में उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टि में विशेष फर्क नहीं पाया गया। कमोवेश दोनों व्यवस्थाओं में समाज की काया सिकुड़ती गई, और राज्य की काया फैलती गई। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता में राज्य की काया-माया-छाया का विस्तार होते गया। इस क्रम में मात्र मनुष्य, समाज और राज्य की अवधारणा के साथ प्रकृति और सृष्टि की भी अवधारणा बदलती गई। न्यूटन की वैज्ञानिक दृष्टि के सन्दर्भ में प्रकृति एक ठोस मशीन के रूप में देखे जाने लगी। उसमें दैवी भूमिका को पूरी तरह नकारे जाने लगा। आगे डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त इसे पूर्णता की बिन्दु तक पहुँचा दिया। दृष्टि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई। एडम स्मिथ की पुस्तक 'Wealth of National ने समाज आधारित अर्थ व्यवस्था राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में बदल दिया।

इन सारी विचार क्रान्तियों से उपजी औद्योगिक क्रान्ति ने इस इहलोकवादी जीवन जगत दृष्टि को और साकार रूप दे दिया। कम से कम समाज के अभिजात वर्ग की जिन्दगी तो त्यादा आरामदेह हो गई। मानो उसे अल्लादीन का चिराग मिल गया हो।

समाज में अभिजात वर्ग की भूमिका बहुत बढ़ गई। इस वर्ग ने राज्य की बढ़ती काया पर भी कब्जा कर लिया। और राज्य व्यवस्था इनके निहित स्वार्थों का बचाने और बढ़ाने का प्रमुख हथियार बन गई। यद्यपि आम आदमी की बात होती रही। काल क्रम में इसे चुनाव का झुनझुना भी पकड़ा दिया गया। इस बात को लॉक की इस बात से बल मिला था कि सृष्टि के संसाधन बुद्धिमान और मेहनती लोगों के लिए हैं। इस प्रकार प्राकृतिक साधनों के सामूहिक स्वामित्व को व्यक्तिगत सम्पत्ति में परिवर्तित करने में लॉक के विचार की बड़ी भूमिका रही। समाज के छोटे वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन सीमित हो गए और समाज का एक बहुत बड़ा तबका मजदूर और वंचित वर्ग में बदल गया।

कार्लमार्क्स और अन्य चिंतकों ने इस व्यवस्था वैचारिक प्रश्न चिह्न लगाया। उसने दुनिया के इतिहास से यह साबित करने की कोशिश की कि एक दिन संगठित वंचितों की क्रान्ति के फलस्वरूप यह पूँजीवादी व्यवस्था चकनाचूर हो जाएगी। और एक नई समाजवादी व्यवस्था दुनिया में कायम होगी। लेनिन के नेतृत्व में 1917 में हुई रूस की क्रान्ति ने दुनिया के वंचित समूह में एक नई उम्मीद लेकर आई। लेकिन इस बात का ध्यान रहे कि आधुनिक यूरोप की जिस इहलोकवादी जीवन-जगत दृष्टि की चर्चा हम पहले कर चुके हैं, उससे अलग सोच इनकी भी नहीं थी। मुख्य फर्क संसाधनों के स्वामित्व और सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में था। यद्यपि लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन के दौर में पुराने मार्क्सवादियों, बुद्धिजीवियों एवं कुलक के नाम पर हजारों किसानों की हत्या हिंसा का दौर चला। लेकिन आम लोगों में रूसी क्रान्ति का मिथक बना रहा। साथ ही हिटलर और उसके फासीवाद के उदय से पश्चिम के देशों का रुख स्तालीन के प्रति कुछ नरम पड़ रहा था। आगे चलकर हिटलर के विरोध में सभी मिलकर लामबन्द हो गए। और द्वितीय विश्वयुद्ध में इनकी विजय हुई।

हमने कुछ विस्तार में इन दोनों विचारधाराओं की चर्चा इसलिए की है कि जिस दौर में भारत आजाद हुआ, उस युग में इन दोनों का मिथक बना हुआ था। इन दोनों रास्तों से आम आदमी को अपनी तकलीफों से राहत मिलेगी, इसका भंडाफोड़ नहीं हुआ था। जैसा हम पहले कह चुके हैं, दोनों की मूल विश्वदृष्टि में विशेष फर्क नहीं था। दोनों ही विज्ञान और तकनीकी का उपयोग कर शहरीकरण और औद्योगीकरण के रास्ते से आर्थिक विकास करना चाहते थे। गाँधी का मार्ग और मुकाम तो इनसे बिल्कुल अलग था। वे तो ग्राम स्वराज्य विकेन्द्रित राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था, कम खर्चीली जीवन शैली, रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह आदि के पक्षधर थे। भारत का नेतृत्व वर्ग पश्चिम के आर्थिक विकास के मॉडल का पक्षधर था। उसकी सोच यह थी कि जिस रास्ते पर चलकर पश्चिम ने अपने समाज का कायाकल्प किया है, हम लोग भी उसी को अपनाकर अपने समाज को बदल देंगे—उसका नवीनीकरण कर देंगे। इन

सब बातों के पीछे मूल अवधारणा यह थी कि राज्य के माध्यम से समाज परिवर्तन का काम सफल होगा। और यही कारण था कि जब भारत आजाद हुआ तो गाँधी और उनके विचार को हाशिए पर रख दिया गया।

लेकिन आगे परिस्थिति बदलने लगी। 1980 के आते आते यह बात स्पष्ट होने लगी कि राज्य के माध्यम से समाज परिवर्तन का काम सम्पन्न नहीं होगा। ऐसे निष्कर्ष पर आने के लिए कई कारण थे जिसकी चर्चा यहाँ करने की जरूरत नहीं है। कई कारणों से राज्य ने जो जिम्मेदारी ली थी, वह उसको पूरा करने में अक्षम पाया गया। तब राज्य के स्थान पर बाजार को बैठाने की कोशिश की गई। यह बात इतनी आगे बढ़ी कि चीन और रूस ने भी अपना रास्ता बदल लिया और बाजार की भूमिका को वे भी स्वीकार करने लगे। 1989 आते-आते मार्क्सवादी रूस का विघटन हो गया। उसके बाद पिछली सदी के अन्तिम दशक में उदारीकरण और भूमंडलीकरण का दौर चला। वस्तुतः विश्व अब व्यवस्था में यह बाजारीकरण का दौर था। इसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनी की भूमिका बहुत बढ़ गई। मुक्त व्यापार के नाम पर बहते कुछ किया जाने लगा। कुछ धनोपार्जन भी हुआ, लेकिन आम आदमी उससे वंचित ही रहे। इस प्रकार बीसवीं सदी के अन्त आते-आते राज्य के साथ-साथ बाजार की भूमिका की भी पोल खुलने लगी। अब मानव जाति के सामने कई विकराल समस्याएँ आ खड़ी हुईं। उनमें से कुछ की चर्चा हम यहाँ करेंगे। यह ध्यान रहे कि इन समस्याओं के सन्दर्भ में उदारवाद और मार्क्सवाद में ज्यादा फर्क नहीं रहा, क्योंकि वे दोनों व्यवस्थाओं में व्याप्त थीं।

एक तो यही कि जो इहलोकवाद की धारा पुनर्जागरण के बाद यूरोप में चली, उसने कई समस्याएँ खड़ी कर दीं। वस्तुतः परलोकवादी अंधविश्वास से मुक्ति पाने के लिए इहलोकवाद अस्तित्व में आया। लेकिन कालक्रम में इसने भी लक्ष्मण रेखा पार कर ली, मनुष्य अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्रायः भूलने-सा लगा और राज्य के साम्राज्य का विस्तार होने लगा। अब राज्य और नागरिक के बीच जन प्रतिनिधियों की एक विशाल फौज खड़ी हो गई। जनता के सेवक कहे जानेवाले जनप्रतिनिधि उसके मालिक और स्वामी बन गए। 'राज्य की फैलती काया समाज की अन्य संस्थाओं को, जिनसे पहले उनका नियमन होता था, निस्तेज कर दिया। हिंसा-हत्या रोकने के नाम पर राज्य का एक अलग आतंकवाद उभरकर सामने आया। अतः राज्य की काया को कैसे कम किया जाए। यह बात लोगों के सामने आई।

एक दूसरी समस्या मनुष्य और प्रकृति की बढ़ती खाई के रूप में आई। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हद के पार चला गया। खर्चीली जीवन शैली ने इसमें आग में घी का काम किया। अन्ततः मनुष्य पर प्रकृति का जवाबी हमला शुरू हो गया। प्रकृति प्रदत्त प्राणदायक स्रोतों पर खतरा पैदा हो गया। ओजोन की परत में छेद होना, पृथ्वी का गरम होना, मौसम परिवर्तन उसी जवाबी हमले के परिणाम हैं। इन

सबके चलते अन्य जीवों के साथ-साथ मनुष्य का अपना अस्तित्व भी खतरे में पड़ा दिखने लगा।

एक तीसरी समस्या मनुष्य की स्वार्थपरता और व्यक्तिवाद के रूप में उभरकर सामने आई। व्यक्ति समाज से अलग-थलग पड़ने लगा। समाज का विघटन होने लगा। भौतिक सुख सम्पदा की तलाश में वह अपने जीवन के कई अन्य महत्वपूर्ण पक्षों को भूलने लगा। लेकिन इस अत्यधिक स्वार्थपरता और अकेलेपन से उसे अपने जिन्दगी का अकारण हो जाने का भाव पैदा होने लगा। अन्ततः इस भाव बोध से मुक्ति पाने की तलाश करने में वह लग गया।

इन वैश्विक समस्याओं के अलावा अगर हम अपने देश की समस्याओं पर दृष्टिपात करें तो यहाँ भी इनका अम्बार दिखता है। एक तो यही कि मुनादी व्यवस्था विकृत हो गई है। भारत का जनतंत्र धर्मतंत्र, जाति तंत्र, क्षेत्र तंत्र के नीचे कुछ दबा हुआ दिखता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के जमाने हमारे नेताओं ने जिस तरह की राष्ट्रीय एकता स्थापित की थी, वह बिखरती दिख रही है। राजनेता अपने राजनीतिक स्वार्थों के चलते विभिन्न समुदायों और समूहों में टकराव की स्थिति पैदा कर रहे हैं। दूसरी विकृति राजनीति में परिवारवाद के रूप में आ रही है। राजनीतिक दलों के अन्दर प्रजातान्त्रिक व्यवस्था कमजोर होती जा रही है। अधिकांश राजनीतिक दल कुछ परिवारों के जागीर बनते जा रहे हैं। तीसरी समस्या भ्रष्टाचार की है। इसके साथ-साथ देश में 'खैरात' बाँटकर वोट खरीदने की प्रवृत्ति राजनीतिक दलों में व्याप्त होती जा रही है। इससे आम लोगों में पुरुषार्थहीनता का भाव पैदा हो रहा है। गाँधी विचार का पुनः आगमन इन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। विश्व के संवेदनशील चिंतकों को लगता है कि गाँधी विचार में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनके माध्यम से मानव मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। मेरी राय में यही कारण है आज गाँधी विचार की विशेष चर्चा होने की। हम उनमें से कुछ तत्त्वों पर विचार करेंगे।

एक तो गाँधी का उदाहरणकर्ता के रूप में जीवन हमेशा प्रासंगिक रहेगा। जो कुछ सोचा, कहा उसे अपने जीवन में प्रयोग कर दिखाया। वे चीनी दार्शनिक कनफ्यूसस की इस कसौटी पर खरे उतरते हैं कि हम सज्जन पुरुष उसे ही कहेंगे, जो अपने जीवन व्यवहार का प्रवचन तब तक नहीं करता, जब तक यह अपने वचन को अपने जीवन व्यवहार में लाकर नहीं दिखाता। साथ ही गाँधी की विश्वदृष्टि जीव-जगत और ब्रह्म के आत्मीय सम्बन्ध पर आधारित थी। उनके विश्व दृष्टि का दूसरा तत्त्व था—मनुष्य का दैवी स्वरूप। इसके चलते गाँधी मानते थे कि मनुष्य अपनी साधना के बल पर पूर्णता तक पहुँच सकता है। उनकी विश्वदृष्टि का तीसरा तत्त्व था संसार में मनुष्य की हस्तक्षेप का अनिवार्यता। अपनी सेवा के माध्यम से संसार को बेहतर बनाने के काम में लगे रहना मनुष्य का परम धर्म है। ऐसा उनका मानना था कि इस प्रकार संच्छास धर्म को माननेवाले को भी लोक संग्रह के खयाल से संसार कर्म में लगे

रहना होगा। इस प्रकार गाँधी एक तरफ तो स्वार्थ प्रेरित होकर लौकिकता में छिपे मनुष्य की अवधारणा को नकारते हैं तो दूसरी तरफ दूसरी संसार से पलायन करते संन्यास धर्म को भी वे अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी एक सकारात्मक जीवन दृष्टि को स्थापित करते हैं। इसलिए आज की भौतिक-आध्यात्मिक संकट के दौर उनकी एक स्वस्थ और सकारात्मक जीवन दृष्टि बहुत प्रासंगिक लगती है।

इतना ही नहीं उनके चिंतन में कई अन्य तत्त्व भी आज सन्दर्भ संग्रह लगते हैं। उनमें से एक उनकी स्वराज्य की अवधारणा। इस सन्दर्भ में उनका आन्तरिक और बाह्य स्वराज की अवधारणा बहुत मार्मिक लगती है। मनुष्य की वास्तविक आजादी तभी प्राप्त होगी, जब वह अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पा लेगा। परन्तु वे बाह्य स्वराज की महत्ता को नकारते नहीं हैं। इसीलिए भारत की आजादी के लिए उन्होंने पुरजोर कोशिश की। लेकिन आज की परिस्थिति में उनकी आन्तरिक स्वराज की बात बहुत ही सन्दर्भ संगत लगती है। इसके अभाव में आज के राजकर्म दूरे पर शासन करने में सक्षम दिखते हैं, लेकिन अपने पर शासन करने में अक्षम। और राजनीति के क्षेत्र में हो रहे नैतिक पतन का यही कारण है। इसकी प्राप्ति के लिए वे लोगों को एकादशव्रत का गुरुमंत्र देना नहीं भूलते।

गाँधी के स्वराज्य का दूसरा तत्त्व है, उनका आमजन को राजनीति की परिधि से हटाकर उसके केन्द्र के तरफ लाना। इसके लिए ये एक पूरी तरह की विकेन्द्रित राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था की परिकल्पना रखते हैं जिससे, राजसत्ता की बागडोर आम आदमी के हाथ में आ जाए। इसे ही वे पंचायती राज्य या ग्राम स्वराज्य कहते हैं।

उनके स्वराज्य का तीसरा तत्त्व है सर्व समावेशी भारतीय राष्ट्र की परिकल्पना। यानी इस पर भारत में रहनेवाले हर भारतीय का समान अधिकार है चाहे उसकी जाति, धर्म और भाषा कुछ भी हो। उनका यह भी मानना है कि भारत हमेशा से एक राष्ट्र के रूप में रहा है तथा उसी रूप में आगे भी रहेगा। इस सन्दर्भ में वे धर्म और राजनीति में एक विशेष रूप से नजदीकी सम्बन्ध मानते थे, ताकि धर्म मात्र उपासना की विधि और कर्मकांड तक सीमित न रहे और राजनीति मात्र राजसत्ता हथियाने का हथियार बनकर न रह सके। दोनों के तालमेल से समाज में एक नैतिकता और सेवा का भाव पैदा किया जा सके। यही मर्म है उनके सर्वधर्मसमभाव के सिद्धान्त का। इसी क्रम में वे राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच भी तालमेल बैठाना चाहते हैं। वे भारत की आजादी के लिए इसलिए भी अथक प्रयास कर रहे थे कि स्वतन्त्र होकर भारत विश्व सेवक बन सके। इस प्रकार गाँधी की स्वराज्य की परिकल्पना का एक शाश्वत स्वरूप है।

### गाँधी के आर्थिक विचार

गाँधी चाहते थे कि मनुष्य प्रकृति संसाधनों का समुचित उपयोग, उपभोग करे, लेकिन इनका अपव्यय न करे। वे मात्र मनुष्य के भौतिक सुख-सम्पदा को बढ़ाते जाने के पक्षधर नहीं थे। उनका ध्यान तो मनुष्य की मूल आवश्यकताओं की आपूर्ति पर था। इस सम्बन्ध में उनका 'रोटी श्रम', न्यासिता, मनुष्य अपनी जरूरतों की सीमा में इसे आदि सिद्धांत का यही रहस्य है। वे चाहते थे कि मनुष्य का ध्यान चारों पुरुषार्थों यानी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पर समभाव से रहे न कि मात्र अर्थ और काम पर। इस प्रकार वे आदमी को सुखवाद के रास्ते से हटाकर आनन्द के मार्ग पर ले जाना चाहते थे।

गाँधी के समाज परिवर्तन का साधन मए समाज और व्यक्ति के निर्माण के लिए वे तीन तरह के साधन सुझाते हैं—एकादश व्रत, रचनात्मक कार्य और सत्याग्रह। एकादश व्रत के माध्यम से व्यक्ति को अपना आन्तरिक स्वराज्य प्राप्त होगा। इस प्रकार वह ज्यादा कारगर ढंग से समाज सेवा का कार्य कर सकेगा। उसी प्रकार रचनात्मक कार्य के माध्यम से नए समाज के निर्माण में भागीदार बनेगा। सत्याग्रह के रूप में तो वे हर आदमी के हाथ एक ब्रह्मास्त्र दे देते हैं। जिन समस्याओं का समाधान समाज में नहीं हो पा रहा हो, उनको सत्याग्रह द्वारा सुलझाया जा सकता है, यही उनका आग्रह है।

इस प्रकार गाँधी अपने वैचारिक चिंतन में एक तरफ पश्चिम के व्यक्तिवाद को नकारते हैं तो दूसरी तरफ वे मार्क्सवादियों के समूहवाद को भी अस्वीकृत करते हैं। वे व्यक्ति और समष्टि के बीच एक अद्भुत समन्वय का ताना-बाना बुनते हैं। इस प्रकार गाँधी एक अहिंसक, न्यायपूर्ण एवं समतामूलक समाज की परिकल्पना रखते हैं। वे उसके लिए मार्ग और पाथेय भी सुझाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सारी व्यवस्था में छोटे-मोटे परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे। वे तो एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के माध्यम से एक नया समाज का निर्माण करना चाहते थे।

### गाँधी आन्दोलन का भविष्य

स्थानाभाव के कारण हम गाँधीवादी राजनीति और आन्दोलन के एक सौ साल का विवरण यहाँ प्रस्तुत नहीं कर सकते। वे दक्षिण अफ्रीका से 1915 में भारत में लौटे। भारत के जनमानस को समझने के लिए एक साल देश भ्रमण करते रहे। उसी क्रम में उन्होंने अहमदाबाद में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की और चम्पारण खेड़ा-अहमदाबाद मिल मजदूर संघ और रॉलेट सत्याग्रह के माध्यम से 1920 आते आते वे भारत के सबसे प्रमुख नेता बन गए। फिर उन्होंने कांग्रेस के संगठन, कार्यशैली एवं लक्ष्य में बदलाव के माध्यम से उसे आजादी की लड़ाई का संभवतः हथियार बनाया। असहयोग



आन्दोलन, 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' और 'भारत छोड़ो' के माध्यम से भारत की आजादी के काम को बहुत आगे बढ़ाया। 1947 में भारत आजाद हुआ। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना होगा कि गाँधी अपने विचार-चिंतन को कांग्रेस से मनवाने में सफल नहीं रहे। मसलन कांग्रेस उनके अहिंसा के सिद्धान्त को एक रणनीति के रूप में माना न कि सिद्धान्त रूप में, लेकिन भारत की आजादी का प्रश्न इतना बड़ा था कि वे इस प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार हो गए। लेकिन अपनी शहादत से एक दिन पहले लिखा उनका अन्तिम दस्तावेज, जिसे अब उनका 'Last will and Testament' कहा जाना लगा है, कि इस बात का सबूत प्रस्तुत करता है वे कांग्रेस एवं सभी रचनात्मक संगठनों को मिलाकर लोक सेवक संघ के रूप में एक नया संगठन बनाकर एक नए समाज बनाने के लिए एक नए आन्दोलन बनाने के लिए अग्रसर हो रहे थे। लेकिन उनकी शहादत से उनका यह काम अधूरा रह गया। इसके बाद विनोबा के नेतृत्व में भूदान आन्दोलन के माध्यम से गाँधी आन्दोलन को एक नया स्वरूप देने की कोशिश हुई। भूदान के रूप में काफी काम हुआ। लेकिन आगे चलकर बाबा विनोबा सूक्ष्म में प्रवेश कर गए। सर्वोदय आन्दोलन की धारा कमजोर होने लगी। फिर जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन चला, आपातकाल की घोषणा हुई, जनता पार्टी बनी और जनता सरकार बनी। लेकिन वह शीघ्र बिखर गई। इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस फिर सत्ता में आ गई। भारत की राजनीति में बड़ा परिवर्तन हुआ। सबसे बड़ा परिवर्तन इसकी अर्थनीति में हुआ। भूमंडलीकरण और उदारीकरण का युग आया। गाँधीवादी लोगों ने 'आजादी बचाओ' का आन्दोलन चलाने की कोशिश की, लेकिन वह काम बहुत आगे नहीं बढ़ सका। फिर अन्ना हजारे के नेतृत्व भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन चला, लेकिन वह आन्दोलन कुछ कदम चलकर रुक गया। केजरीवाल और उनके साथी उससे अलग होकर दिल्ली राज्य की सत्ता पर काबिज हो गए। 2014 के आम चुनाव के बाद नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी। उनकी पार्टी ने हाल के चुनाव में उत्तर प्रदेश और उत्तरांचल पूरी सफलता प्राप्त की है। गोवा, मणिपुर सहित इन दोनों राज्यों में भी भारतीय जनता पार्टी की सरकार बन चुकी है।

इसी सन्दर्भ में गाँधीवादी राजनीति और आन्दोलन पर विचार होना चाहिए। आगे इसकी क्या समान्तर लगती है? हमें इस बात को ध्यान में लाना चाहिए कि कभी राम मनोहर लोहिया ने आजादी के बाद के भारत में तीन तरह के गाँधीवादी नेतृत्व और आन्दोलन की चर्चा की थी। वे इसे सरकारी गाँधीवादी मठी गाँधीवादी और कुजाति गाँधीवादी कहते थे। लोहिया जवाहर लाल को सरकारी गाँधीवादी, विनोबा को मठी गाँधीवादी तथा अपने को कुजाति गाँधीवादी मानते थे। आज इतने सालों बाद इन तीनों की क्या स्थिति है? एक बात तो तय है कि सरकारी और कुजाति गाँधीवादियों के लिए गाँधीविचार चुनाव रणनीति के अंग होन के अलावा कुछ नहीं रह

गया है। गाँधी का नाम और विचार इन दोनों के लिए चुनावी राजनीति के अलावा किसी काम का नहीं रह गया है। लेकिन गाँधी विचार की मुख्यधारा की स्थिति भी ज्यादा अच्छी नहीं है। आज ढेर सी गाँधीवादी संस्थाएँ तो हैं, लेकिन वस्तुतः कोई गाँधीवादी आन्दोलन नहीं है। इसकी संभावना भी निकट भविष्य में दिखती। इन संस्थाओं से जुड़े हुए लोगों से बात करने के दौर में कोई उनके दिमाग में खाका या रोड मैप नहीं दिखता। तब क्या हो सकता है? सिद्धान्ततः कई सम्भावनाओं की कल्पना की जा सकती है। एक तो यह कि एक पंथ का स्वरूप धारण कर ले। इस नामघोष में एक और नया नाम जुड़ जाए, और उनका विचार माला का जाप होता रहे। लेकिन यह तो गाँधी चिंतन से बिल्कुल उल्टा काम होगा। वे तो नया पंथ बनाने की बात को पूरी तरह नकार चुके थे। वे तो गुरु-शिष्य परम्परा को स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने अपना कोई औपचारिक शिष्य नहीं बनाया। उनकी दृष्टि तो सर्व समावेशी जन आन्दोलन पर टिकी हुई थी, किसी तरह के पांथिक आन्दोलन पर नहीं। वस्तुतः इस प्रकार पांथिक आन्दोलन तो इमान को दुकान बनाने का ही एक रूप होता है।

दूसरी संभावना देश के सामने समस्याओं में कुछे समस्याओं को चुनकर उनके माध्यम से जन आन्दोलन का स्वरूप देने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इस तरह के प्रतीकात्मक 'एक्शन' द्वारा एक नया जन आन्दोलन नहीं खड़ा किया जा सकता। इन्हें आजादी बचाओ आन्दोलन और 'अन्ना हजारे द्वारा संचालित आन्दोलन से कुछ सीख लेनी होगी। ये दोनों टिकाऊ जन आन्दोलन का स्वरूप नहीं धारण कर सके। उसके कारण थे, जो आज भी मौजूद हैं।

लेकिन भाग्यवश देश-दुनिया की परिस्थिति पूर्णतया निराशाजनक नहीं है। कई तरह सकारात्मक लक्षण विद्यमान हैं। एक तो यही कि आज गाँधी के जीवन, कर्म और विचार की सर्वत्र चर्चा हो रही है। आज संकटग्रस्त मानव जाति को गाँधी विचार में आशा की किरण दिखती है। जैसा हम पहले कह चुके हैं उनके कुछ विचार आजकल संगत और संदर्भ संगत लग रहे हैं। लेकिन तब सवाल उठता है कि ऐसी स्थिति में गाँधीवादी आन्दोलन जन आन्दोलन क्यों नहीं बन रहा है। इसके कई कारण हो सकते हैं। अगर हम जन आन्दोलनों के इतिहास को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि कोई भी वैचारिक आन्दोलन पहले बौद्धिक वर्ग के दिलोदिमाग में जगह बनाता है और बहुत आगे जाकर जन आन्दोलन का स्वरूप धारण करता है। गाँधी के पुनः आगमन का यह पहला पड़ाव है। आगे उम्मीद भूमिका प्रवेश मार्ग खुलेगा, ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

वर्तमान परिस्थिति में गाँधीवादी आन्दोलन की द्विपक्षीय रणनीति हो सकती है। एक तो गाँधीवादी संस्थाओं को गहन शोध कार्य में संलग्न होना होगा। अभी गाँधी से जुड़ा शोध-कार्य ज्यादा मात्र उनके अपने लेखन और विभिन्न विद्वानों की अपनी

राय पर आधारित रहा है। आज जरूरत है देश-दुनिया की समस्याओं पर फील्ड स्टडी पर उनका हाल गाँधी विचार में परिप्रेक्ष्य में ढूँढ़ना। यह एक श्रमसाध्य और कष्टसाध्य कार्य है। लेकिन एक आवश्यक कार्य है, जिसे नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। गाँधी स्वयं अपने द्वारा संचालित आन्दोलनों के पहले ऐसे अध्ययन पर जोर देते थे। इसलिए गाँधीवादी संस्थाएँ जैसे गाँधी विचार परिषद, वर्धा, गाँधी शोध प्रतिष्ठान, जलगाँव, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, गाँधी स्मृति एवं दर्शन, नई दिल्ली, गाँधी राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली आदि संस्थाओं को एक सम्मिलित और संगठित रूप से इस क्षेत्र में पहल करनी होगी। ऐसा संयुक्त प्रयास एक तरह से गाँधीवादी थिंक टैंक (Gandhian Think Tank) के रूप में काम करेगा। इस तरह के शोध कार्य में गाँधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं एवं संस्थाओं के कार्य एवं अनुभव का भी आकलन किया जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि जमनालाल प्रतिष्ठान हर वर्ष कई गाँधीवादी संस्थाओं को विभिन्न प्रकार का पुरस्कार प्रदान करता है। इस शोध कार्य में उनके कार्य और अनुभवों का भी आकलन होना चाहिए।

एक अन्य क्षेत्र है विश्वविद्यालयों में महाविद्यालयों में संलग्न शिक्षक और विद्यार्थियों का समूह में अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि शिक्षकों और विद्यार्थियों का गाँधी विचार में अभिरुचि बढ़ी है। इसका सबूत सूबा राव जी के यूथ कैम्प और गाँधी विचार परिषद के विभिन्न राज्यों में संचालित विद्यार्थी कैम्प में देखा जा सकता है। गाँधीवादी संस्थाओं को इस दिशा में ज्यादा पहल करने की जरूरत है। सेमीनार विचार गोष्ठी, विद्यार्थी एवं नवजवान कैम्प के माध्यम द्वारा बड़े पैमाने पर शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के पास पहुँचा जा सकता है। यहाँ गाँधीवादी लोगों मानसवादियों से बहुत कुछ सीखना होगा। उन्होंने इन्हीं माध्यमों से विभिन्न विद्या संस्थानों में अपनी पैठ बना ली है। इस क्षेत्र/गाँधी शोध प्रतिष्ठान, जलगाँव गाँधी विचार पर परीक्षा के माध्यम विद्यार्थी वर्ग में उसके विस्तार का एक बड़ा प्रयास कर रहा है। अन्य गाँधीवादी संस्थाओं को भी ऐसा काम करना होगा, ताकि वह एक महत्त्व वैचारिक आन्दोलन का स्वरूप ले सके। वर्ष 2018-19 में गाँधी का एक सौ पचासवाँ वर्ष मनाया जाएगा। यह एक अवसर प्रदान करता है गाँधी विचार को एक वैचारिक आन्दोलन बनाने बढ़ाने।

आज गाँधी, विनोबा, लोहिया और जयप्रकाश की तरह का व्यक्तित्व नहीं है, जिसके नेतृत्व के आधार पर एक बड़ा गाँधीवादी आन्दोलन खड़ा किया जा सके। अब तो बाबा विनोबा के शब्दों में 'लोकावतार' से ही काम चलाना होगा।

## जनता की आलोचना

ध्रुव शुक्ल\*

स्कूल के दिनों में एक निबन्ध पढ़ाया जाता था—नेता नहीं, नागरिक चाहिए। वह निबन्ध परिवार, समाज और देश के प्रति अपने कर्तव्यबोध से भरे व्यक्ति को नागरिक के रूप में परिभाषित करता था और यह याद दिलाता था कि किसी देश में जन्म लेकर उसका जन हो जाना ही काफी नहीं, जन को अपने नागरिक होने को प्रमाणित करना चाहिए। यह बात बिल्कुल ऐसा ही है कि जन्म से आत्मज तो सभी होते हैं, पर उन्हें ज्ञान और कर्म को साधकर द्विज होना पड़ता है। भारत के लोगों ने अपने लिए जो संविधान बनाकर सौंपा, उसमें नागरिकों के कर्तव्य और अधिकार ही सुनिश्चित किए गए हैं, जनता के नहीं। अब नायक और नागरिक शब्द सुनाई ही नहीं पड़ते, नेता और जनता से ही लोकतन्त्र चल रहा है।

मतदाता सूची में दर्ज नामों को नागरिक होने की वैधता प्राप्त हो जाने का मतलब ही यही है कि अब हमें अपने देश के जिम्मेदार नागरिक के रूप में अपने-आपको प्रमाणित करने का अधिकार मिल गया है और हमें मिला यह अधिकार हमारे कर्तव्य से ही प्रमाणित हो सकता है। केवल आम चुनाव के माध्यम से अपनी जिम्मेदारी कुछ लोगों के कन्धों पर डाल देने से किसी देश के जन का नागरिक होना कभी प्रमाणित नहीं होगा। फिर उन्हें जनता होकर ही गुजारा करना पड़ेगा जो कुछ लोगों के छल की शिकार होकर और उन्हें अपनी शक्ति सौंपकर निरुपाय हो जाती है। वह कर्तव्य विमुख-सी होकर केवल अधिकारों की माँग में अपना जीवन गँवाती रहती है।

किसी देश में केवल जनता होकर रहना स्वीकार कर लेने से कोई भी कुटिल राजनीतिक दल जन की असहायता का मनमाना लाभ उठाते हुए उनसे पूरे देश की सम्पदा और साधनों को छीनकर आसानी से सत्ता पर काबिज हो सकता है। वह कुछ

---

\* कवि-कथाकार, एम.आई.जी. 54 कान्हा कुंज, कोलार रोड, भोपाल-462042 (म.प्र.);  
मो. 09425301662

लोभ-लालच दिखाकर जनता को अपने पक्ष में तोड़ लेता है, पर नागरिक होने के मार्ग पर चल पड़ी जनता के साथ यह छल सम्भव नहीं। सच्चे नागरिक किसी के राज्य के भरोसे नहीं जीते, वे अपने नदी-पर्वतों, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, खेत-खलिहानों, बहुरंगी पुरा-पड़ोस और अपने हुनर के साथ अपना स्वराज्य खुद रचते रहते हैं। वे अपना बोझ किसी धर्म, राजनीति और बाजार के कन्धों पर कम-से-कम ही डालते हैं, क्योंकि वे निरन्तर नागरिक धर्म को विकसित करते हुए अपने आसपास के प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा की जिम्मेदारी खुद उठाने लगते हैं और अपनी जरूरत के उत्पादन वाले बाजार को ही स्वीकार करने में अपनी खैर मानते हैं।

हाहाकार मचाते और फिर भीतर-ही-भीतर मन मसोसते-से रह जाते जनसागर के बीच नेता, अभिनेता, पत्रकार, ई-मीडिया, अफसर, विक्रेता, गुण्डे और मतान्ध मठाधीशों के गठबन्धन के कुटिल जाल में असहाय-असुरक्षित जनता को फँस लिया गया है। राजनीतिक दलों के प्रवक्ता अपने-अपने दलों के स्वार्थ साधने के लिए जनता का नाम-जप करते हुए रोज कहते हैं कि—जनता सब कुछ देख रही है, पर वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि वह उनके जाल के भीतर फँसी है और उसे उनके ही दल की कुटिल ताकतों ने इतना बेबस बना रखा है कि वह जाल से बाहर आकर अपने नागरिक धर्म को कभी पहचान न सके। प्रत्येक राजनीतिक दल जनता को असहाय बनाए रखकर उसे अधिकारों की माँग करना तो सिखाता है, पर कर्तव्यबोध का कोई संस्कार नहीं देता। सारे राजनीतिक दल इस डर से भीतर-ही-भीतर काँपते रहते हैं कि अगर कर्तव्यबोध जाग गया तो उनके गठबन्धनों से गढ़ा जाता मनमानी लूट का राज्य भरभराकर गिर जाएगा।

नेता भी अभी जनता ही हैं, वे नागरिक कहाँ बन पाए हैं। अगर नागरिक होकर नेता बने होते तो इतनी आसानी से देश के साधन और सम्पदा बहुराष्ट्रीय बाजार के हवाले करने को उतावले न होते। वे गाँधी जी को याद तो करते हैं पर अपने कर्म से गाँधी हो नहीं पाते तो इसीलिए कि वे महाकवि तुलसीदास और महात्मा गाँधी के सिखाए उस नागरिक धर्म को अब तक आत्मसात ही नहीं कर पाए हैं, जिसके होने से जीवन में विषमता चली जाती है और आपसी वैरभाव के लिए जहाँ कोई जगह ही नहीं होती। विकासशील रामराज्य का एकमात्र आशय यही है कि हरेक जन अपनी, अपने देश की और दुनिया की प्रकृति के अनुरूप अपना सामना करना सीख जाए तो फिर किसी राज्य को उसकी जिम्मेदारी उठाने की जरूरत कम ही रह जाएगी। इस संसार में जीतने के लिए सिवा अपने मन के और कोई शत्रु नहीं है।

राज्य के द्वारा बाजार को सौंप दी गई जनता अपना मन नहीं जीत पाएगी और बाजार उसे रोज पराजित करता रहेगा। एक पराजित जनता के मतदान से पाई गई विजय को अपनी विजय मानना किसी लोकतन्त्र में नेताओं की शोभा को नहीं बढ़ाता। तभी तो वे कितने आभाहीन और बुझे हुए-से जान पड़ते हैं। टूटी-बिखरी

जनता के टूटे-बिखरे नेता घृणा के पात्र बनते जा रहे हैं। उनके बोलने से पता चल जाता है कि वे अपने देश के भूगोल और संस्कृति के बारे में कितना कम जानते हैं। उनके रहन-सहन को देखकर सहज ही अनुमान हो जाता है कि वे देश को खोखला करके अपना घर भर रहे हैं। वे अपने दोषों को सिद्ध न होने देने के लिए ही किसी-न-किसी तरह सत्ता में बने रहना चाहते हैं। अगर मतदान ही पापपूर्ण हो तो उससे लोक कल्याण के हितकारी परिणाम कैसे आएँगे।

राजनीतिक दलों ने अपनी-अपनी जनशक्ति जुटाने के नाम पर पूरे देश को ही अल्पसंख्यक आबादी में बाँट रखा है। पिछड़े और दलित तो किसी बहुसंख्यक समाज के ही हिस्से हैं, पर अब वे लाल-नीले झण्डों से पहचाने जाते हैं। मुसलमान हरे रंग से और बचे-खुचे हिन्दुओं की पहचान भगवा रंग में सिमटती जा रही है। जनता राजनीतिक गिरोहबन्दी की शिकार है। अफसर, छोटे कर्मचारी और अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी सामाजिक संस्थाओं से जुड़ी जनता भी अपने व्यवसाय और सम्प्रदाय के नाम पर टुकड़ों में बँटी हुई है। ये सारे जनसमूह यथासमय अपने स्वार्थ-साधन के लिए तो उठ खड़े होते हैं, पर देश के समूचे जन उठ खड़े हुए प्रतीत नहीं होते, जिनमें अन्याय के प्रति सबकी भागीदारी प्रकट होती हो। देश में कोई बहुसंख्यक समाज है इसका कोई भान ही नहीं होता। हमारे सारे जनप्रतिनिधि अल्पसंख्यक समाजों का ही जैसा-तैसा प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और अपने-आपको बचाए हुए हैं और उनने अपने हिस्से में आई जनता को सिर्फ अपने स्वार्थ-साधन में रंग दिया है।

जनता भी अपने नेताओं की नकल करके जैसे-तैसे अपने-आपको बचाए रखने में अपनी खैर मानती है। वह भी फर्जी प्रमाण पत्र बनवाने में संकोच नहीं करती। जब उसके नेता बनवाते हैं तो वह क्यों न बनवाए। नेता स्कूल चलाने का धन्धा करते हैं और जनता बड़े मजे से अपने बच्चों को सामूहिक नकल कराने में अपना गौरव मानती है। उसे भी जमीन की फर्जी रजिस्ट्री करवाने में संकोच नहीं होता, क्योंकि उसके नेताओं को नहीं होता। जब नेता चुनाव जीतने के लिए उसे फर्जी वोट डालना सिखा सकते हैं तो वह फर्जी काम करने में संकोच कैसे करेगी। अयोग्यता और लोभ को लम्बे समय तक राजनीतिक सहारा देते रहने से लोकतन्त्र सफल नहीं होगा। जिस संसार में राज्य द्वारा प्रायोजित आतंक और पर्यावरण का संकट बढ़ता जा रहा हो उसका सामना करने के लिए धरती पर ज्ञानवान, निर्भय और सृजनशील नागरिक जीवन होना आवश्यक है।

जनता ई-मीडिया पर फर्जी जीवन के सीरियल देख-देखकर झगड़ालू और ईर्ष्यालु हुई जा रही है। वह फिल्में देखकर डकैती, बलात्कार और हत्या करने के नायाब तरीके सीख रही है। उसे विज्ञापनों में कहीं भी और कहीं भी सुरक्षित सम्भोग के उपाय बताए जा रहे हैं। बाजार ने जनता को केवल शरीर की चिन्ता में ऐसा उलझा लिया है कि जैसे उसे अपनी आत्मा की डरावनी कोई परवाह ही न हो। बाजार द्वारा

हर मौसम में किसी-न-किसी बीमारी की खबर जरूर फैला दी जाती है, जिससे कि अफसर और नेता अनाप-शनाप दवाइयाँ जनहित में खरीदने का पाखण्ड रचकर रईस हो सकें और जनता डेंगू के मच्छर से डरकर घर में ही छिपी रहे। वह तो चुपचाप उसके नाम पर किए जा रहे झूठे झगड़ों की टेलीविजन पर खबर सुनकर यह सन्तोष कर ले कि उसकी ओर से सब लड़ रहे हैं, अब उसे सवाल उठाने की कोई जरूरत ही नहीं। कभी वह ऐसी खबरें देखकर भी डर जाती होगी कि जो भी सही सवाल उठाने की हिम्मत करता पाया जाता है, उसे मार दिया जाता है।

ऐसी जनता भी कम नहीं है, जो किसी भी राज्य में अपने लिए सुरक्षित कोना खोज लेती है। मजे से अफसरी करती है और अपनी सिविल लाईन कालोनी में सुरक्षित रहती है। जो जनता व्यापार करती है, वह बीच बजरिया में ऊँची इमारत उठाकर चारों तरफ मजबूत बाड़ बाँध लेती है। कुछ जनता सबको साथ लेकर चलने वाला नागरिक हुए बिना मात्र धनबल से ताकतवर हो जाती है और अपने बच्चों के लिए अलग स्कूल, इलाज के लिए अलग अस्पताल भी खुलवा लेती है। इस तरह सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में बँटकर दो तरह की जनता एक ही देश में मन मारकर रहने लगती है। शासक बदलते रहते हैं, पर यह एक ही भूमि पर बसा दो तरह का देश नहीं बदलता।

लगता है, अब मात्र लिखने और बोलने-भर से कुछ नहीं बदलेगा। शोर और रंगीन दृश्यों के बीच लोग अब पढ़ना और सुनना भूलते जा रहे हैं। वे सिर्फ देखते हैं, और अनसुनी करते हैं। क्या बिना लिखे और बोले ऐसा कोई लोकहित सम्भव है, जिससे नागरिक धर्म की कोई नई संहिता रची जा सके और जिससे कोई ऐसी आवाज पैदा हो, जिसे सब सुनने को आतुर हों। कुछ लोग जरूर होंगे, जो एक बिलकुल नई नागरिक स्मृति को जगाने के लिए विकल हो रहे होंगे। क्या इस कठिन समय में उन सबका एक साथ मिलना सम्भव है? क्या देश में सही समय पर टोकने वालों का एक नया स्थायी प्रतिपक्ष गढ़ा जा सकता है, जिसे सत्ता का मोह न हो? यह केवल बाजार के ग्राहकों को जगाने का नहीं, गुन के ग्राहकों को जगाने का समय है, यह किसी एक के बचने का नहीं, सबको बचाने का समय है। ये समय काम आ जाए तो बहुत अच्छा, न आए तो फिर सबके मिट जाने का समय है...।

## आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ‘भाव’-विवेचन और ‘उत्साह’-निरूपण : मनोवैज्ञानिक और चिन्तनात्मक समीचीनता—असमीचीनता का प्रश्न!

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’\*

(1)

‘चिन्तामणि’ भाग-1 के आरम्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ‘भाव’ या ‘मनोविकार’ के स्वरूप को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सबसे पहले उन्होंने इसे परिभाषित किया है—“नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं, जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।” शुक्ल जी की मनोभाव-विषयक यह परिभाषा आपाततः सुघटित दिखती है, पर इसका विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि शुक्ल जी ने इसमें विषय-बोध, उससे सम्बन्धित इच्छा की विविधता और तदनुरूप विभिन्न रूपी योग को मनोभाव के घटक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उनकी यह परिभाषा मनोभाव के घटक-तत्त्वों पर आधारित है। उन्होंने इस परिभाषा में मनोभाव के लिए ‘भाव’ या ‘मनोविकार’ जैसे दो विकल्पात्मक पदों को ग्रहण किया है। जहाँ तक उनके द्वारा विकल्पात्मक रूप में ‘मनोविकार’ को ग्रहण किए जाने का प्रश्न है, यह पद उनका मौलिक चयन नहीं है। यहाँ शुक्ल जी संस्कृत में अमरकोश के रचयिता अमरसिंह की भाव-विषयक परिभाषा से प्रभावित हैं। अमरकोश के अनुसार ‘विकारो मानसो भावः’। भानुदत्त की ‘रसतरंगिणी’ में भाव की परिभाषा के सन्दर्भ में ‘मनोविकार’ का तो नहीं, पर उसी अर्थ में ‘विकार’ शब्द का

\* पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’; (हिन्दी के प्रतिष्ठित सर्जनात्मक और सैद्धान्तिक आलोचक)  
पूर्व प्रोफेसर-अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर-143005 (पंजाब);  
सम्पर्क : 09878647468



प्रयोग प्राप्त होता है—‘रसानुकूलो विकारो भावः’। इस प्रकार यहाँ रस के अनुकूल उत्पन्न होने वाले मन के विकार को ही भाव कहा गया है। भाष्यकर्ताओं ने विकार को अज्ञायमान वस्तु का ज्ञानमय होना॥ निर्दिष्ट किया है। शुक्ल जी की उक्त परिभाषा में जो ‘नाना विषयों के बोध’ की बात कही गई है, वह भानुदत्त की ‘रसतरंगिणी’ में की गई विकार की व्याख्या पर आधारित है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शुक्ल जी के द्वारा भाव या मनोविकार की गई उपर्युक्त परिभाषा उनकी मौलिक परिभाषा नहीं है। पर यह भाव-विषयक भारतीय मान्यता पर आधारित है, जिसका उल्लेख संस्कृत में प्राप्त होता है। शुक्ल जी की परिभाषा के अनुसार भाव मन में जन्म लेते हैं और इसकी उत्पत्ति कई घटक-तत्त्वों के संयोग से होती है।

उन्होंने इसकी घटकीयता में ‘इच्छा’ को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार यह इच्छा ही है, जो अपनी अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग को संघटित कर भाव को उत्पन्न करती है। उन्होंने परिभाषा देने के तुरन्त बाद दो मूलभूत अनुभूतियों का उल्लेख किया है। ये अनुभूतियाँ सुख और दुःख की हैं मनोविज्ञान में वूंट (Woont) का त्रिआगामी सिद्धान्त (Three Dimensional Theory) प्रसिद्ध है। वहाँ सुख-दुःख को तीसरे स्थान पर मान्यता मिली है। पर वहाँ इसके पूर्व और अतिरिक्त दो अन्य भावों को मान्यता दी गई है—1. तनाव-शिथिलता, 2. उत्तेजना-अवसाद। मनोविज्ञान सुख-दुःख की अनुभूति को उत्तेजना (Stimulus) की मन्दता-तीव्रता, इन्द्रिय-संवेदना की रुचिकरता और अरुचिकरता, अभिरुचियों तथा मूल प्रवृत्तियों की परितुष्टि तथा सौन्दर्यानुभूति के भावाभाव पर निर्भर माना है। शुक्ल जी की सुख-दुःखात्मक अनुभूति की तरह उनसे पूर्व सिग्मंड फ्रायड ने अधिक सटीक रूप में 1. जिजीविषा (Eros) और 2. मुमूर्षा (Thanatos) को मूल भाव माना है। जिजीविषा में जीवन के संरक्षण तथा अहं और कामेच्छा के संरक्षण का समावेश किया गया है। मुमूर्षा या मरणवृत्ति (Thanatos) एक प्रकार का ध्वंसात्मक भाव है, जो एक ओर दूसरों को मारने के लिए और दूसरी ओर अपने को ही मिटा देने, आत्मघात तक कर लेने के लिए विवश करता है। इसके अन्तर्गत द्वेष और क्रोध का भी समावेश रहता है।

शुक्ल जी ने भाव या मनोविकार पर विचार करने के बाद नौ भावों—1. उत्साह, 2. श्रद्धा-भक्ति, 3. करुणा, 4. लज्जा और ग्लानि, 5. लोभ और प्रीति, 6. घृणा, 7. ईर्ष्या, 8. भय और 9 क्रोध पर बौद्धिक विमर्शपरक निबन्ध लिखे हैं। इस विषय-सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी ने उन भावों को अपने विचार का विषय बनाया है, जो भारतीय परम्परा में काव्यशास्त्र के रस-प्रकरण में विवेच्य रहे हैं। वहाँ भाव की परिभाषा ‘वागंग सत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावः’ कहकर दी गई है (पं. विश्वनाथ)। शुक्ल जी ने जिन भावों को अपना विवेच्य बनाया है, वे प्रायः काव्यशास्त्र में विवेचित स्थायी और संचारी भाव हैं। उनके द्वारा विवेचित 1. उत्साह,

2. करुणा (शोक), 3. घृणा (जुगुप्सा), 4. भय और 5. क्रोध स्थायी भाव ही हैं। प्रीति भी एक प्रकार से 'रति' नामक स्थायी भाव का पर्याय ही है। अतः यह भी स्थायी भाव है। इनके अतिरिक्त लज्जा और ग्लानि तथा ईर्ष्या (असूया)। ये तीनों संचारी भाव हैं। ये भरत के द्वारा निर्दिष्ट तैंतीस संचारियों में परिगणित हैं। अब शेष रह जाता है शुक्ल जी का श्रद्धा और भक्ति-विषयक भाव। अभिनवगुप्त ने भक्ति और श्रद्धा को भाव नहीं माना, पर उसे स्मृति, मति, धृति उत्साह आदि में ही समाविष्ट किया तथा उन्हें इनका अंग रूप माना। पर बाद में मम्मट ने इनमें भक्ति को भाव-विशेष के रूप में स्पष्ट मान्यता प्रदान कर दी। इस तरह शुक्ल जी के द्वारा विवेचित उक्त सारे भावों की पृष्ठभूमि भारतीय (संस्कृत) काव्यशास्त्र से सम्बन्धित है और उसी पृष्ठभूमि में वे उनके यहाँ विद्यमान हैं।

शुक्ल जी मानते हैं कि भाव की स्थिति प्राथमिक है और वाणी से उसकी अभिव्यक्ति तथा उसकी शारीरिक अनुक्रिया की स्थिति द्वितीयक है। मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धान्त भी यही कहता था कि पहले संवेगात्मक अनुभूति होती है, बाद में शारीरिक अनुक्रिया होती है। पहले भावोद्रेक, फिर उसका वाणी और शरीर में प्रतिफल। पर जेम्स-लांगे सिद्धान्त (James-Lange Theory) इसे नकारता है। विलियम्स जेम्स (William James, 1842-1910) ने 1884 में Mind नामक जर्नल में इस आशय का अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया, जिसे उसने 'Principles of Psychology' (1890) में अभिवर्धित-प्रतिपादित किया। भाव या सांवेगिक अनुभूति की प्राथमिक स्थिति का खण्डन करते हुए उसने लिखा कि "My thesis on the contrary, is that the bodily changes follow directly the perception of the exciting fact, and that our feeling of the same changes as they occur is the emotion... we feel sorry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble." (Volume 2, page 449) आशय यह है कि भाव या संवेग की अनुभूति शारीरिक परिवर्तनों के कारण होने वाली अनुभूति है। किसी भी उत्तेजना (Stimulus) के सामने आने पर जो शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं उसकी अनुभूति उसके तत्काल बाद होती है। इसके अनुसार बच्चे रोते हैं, इसलिए दुःखी होते हैं, हम प्रहार करते, आघात करते, दे मारते हैं, इसलिए क्रोध की अनुभूति होती है, हम काँपते हैं या भागते हैं, इसलिए भय की अनुभूति होती है। इस मान्यता के अनुसार भाव या संवेग का अस्तित्व शारीरिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा है। भाव इसका परवर्ती परिणाम है, पूर्ववर्ती कारण नहीं है। जेम्स के साथ-साथ डैनिस मनोविज्ञानी लांगे (Cail George Lange, 1834-1900) ने भी इस सन्दर्भ में स्वतन्त्र रूप में अपनी पुस्तक Om Sinds Bevagetrer (1885) में इसी सिद्धान्त का जेम्स से पहले प्रतिपादन किया था। दोनों में अन्तर इतना ही है कि लांगे ने संवेग को सीधे उससे सम्बन्धित शारीरिक प्रतिक्रियाओं से जोड़ दिया। उसने उसकी मानसिक स्थिति का कोई उल्लेख

ही नहीं किया। ठीक ऐसा ही विचार वाल्टर ब्रैडफोर्ड कैन्नन (Walter Bradford Cannon, 1871-1945) के सिद्धान्त में निरूपित है। इस अमेरिकी मनोविज्ञानी ने अपने सिद्धान्त में यह स्पष्ट किया कि शारीरिक सांवेगिक परिवर्तन वस्तुतः उत्तेजना प्राप्त होने पर प्रमस्तिष्कीय वल्कल (Cerebral Cortex) में अन्तःपुर (Thalamus) के संकेतों के द्वारा संचालित होते हैं। यहाँ भी इसकी मानसिक स्थिति का कोई उल्लेख नहीं किया गया।

पर इन मनोविज्ञानियों द्वारा किए गए उक्त स्थापनाओं से भी पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने भाव या संवेग के स्वरूप के विषय में ठीक यही प्रतिपादन प्रस्तुत किया था। परवर्ती चिन्तन देकार्त के चिन्तन का ही विकास है।

अतः शुक्ल जी के द्वारा भाव की मानसिक स्थिति की प्राथमिकता या पूर्ववर्तता का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से खण्डित हो जाता है। जब शुक्ल जी ने भाव के स्वरूप पर प्रकाश डाला और भावों पर अपने बौद्धिक निबन्ध प्रस्तुत किया उससे काफी पहले जेम्स और लांगे की भाव या संवेग-विषयक स्थापना सामने आ चुकी थी। पर शुक्ल जी ने अपने प्रतिपादन के समय इस विषय पर हुए पाश्चात्य चिन्तन की ओर ध्यान नहीं दिया, जबकि भाव के स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में उसकी मनोवैज्ञानिक समीचीनता की दृष्टि से यह अपेक्षित था।

उपर्युक्त विवेचन के सन्दर्भ में एक बार भाव-विषयक शुक्ल जी की परिभाषा पर पुनः विचार करें। शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किया है। शुक्ल जी 'नाना विषयों के बोध' की बात करते हैं। पर मनोविज्ञान में इसके लिए उत्तेजना या उद्दीपन (Stimulus) शब्द का सटीक प्रयोग प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह 'नाना विषयों का बोध रूपी उद्दीपन' होगा। 'उद्दीपन' शब्द का प्रयोग भारतीय काव्यशास्त्र में विभाव के एक प्रभेद के रूप में भी किया गया है। शुक्ल जी व्यापार और प्रक्रिया की दृष्टि से इसे भारतीय काव्यशास्त्र की अर्थ-सीमा से अधिक व्यापक अर्थ देते हुए इसे अपनी परिभाषा में स्थान दे सकते थे, जो अधिक सटीक और समीचीन होता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। भारतीय काव्यशास्त्र में रसोद्रेक या रस-निष्पत्ति के लिए हृदयस्थ स्थायी भाव के साथ जिन तत्त्वों का संयोग निरूपित किया गया उनमें उद्दीपन (विभाव) भी एक है। पर शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं जा सका। पर भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापना के आधार पर ही उन्होंने भाव की मानसिक पूर्व स्थिति को स्वीकार कर लिया। वास्तविकता यह है कि उत्तेजना के सामने आने पर किसी भी भाव का उद्रेक इतना त्वरित होता है और उत्तेजना से सीधे प्रेरित (Motivated) होता है कि वहाँ 'इच्छा' के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती है। भाव चाहे शारीरिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में पूर्ववर्ती हों या परवर्ती—दोनों ही स्थितियों में वह सीधे उद्दीपन या उत्तेजना से प्रेरित (Motivated) होते हैं। यहाँ 'इच्छा' के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। उद्दीपन के प्रत्यक्ष या साक्षात् होने के

तत्काल बाद कोई 'इच्छा' उत्पन्न नहीं होती। यहाँ इसके लिए अवकाश ही नहीं है, यहाँ तो सीधे अभिप्रेरण (Motivation) प्राप्त होता है और शारीरिक परिवर्तनों से भाव स्वरूपित हो उठता है। अभिप्रेरण ही क्रिया को उत्पन्न करता है, उसे बनाए रखता है, साथ ही लक्ष्य की निश्चित दिशा की ओर उसे उन्मुख करता है। इस प्रकार यहाँ 'इच्छा' भाव को स्वरूपित करने और शारीरिक परिवर्तन को घटित करने का कारक तत्त्व नहीं है। यह कारकत्व अभिप्रेरण (Motivation) को प्राप्त है। यही मनोविज्ञान सम्मत है और भावानुभव की स्वानुभव प्रक्रिया से भी सम्मत है। अतः यहाँ शुक्ल जी की भाव-विषयक परिभाषा खण्डित हो जाती है। वह असमीचीन और अयौक्तिक सिद्ध होती है। उक्त परिभाषा उनके एतद्विषयक ज्ञान और चिन्तन की सीमा का ही इजहार करती है। इस तरह उनकी यह स्थापना भी खण्डित हो जाती है कि "विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नताओं के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।"

शुक्ल जी ने 'भाव' को परिभाषित करने के क्रम में भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया है। काव्यशास्त्र के अनुसार *स्थायी भाव हृदयस्थ होते हैं। वे हृदय में पहले से विद्यमान होते हैं। उद्रेक होने पर ये मनोदैहिक व्यक्तित्व पर परिव्याप्त हो जाते हैं।*

'भावयन्ति' जिस मूल धातु से बना है वह धातु है 'भावुय'। इन दोनों का ही अर्थ परिव्याप्त होना है। पर शुक्ल जी 'भाव' को पहले से हृदय में स्थित नहीं मानते हैं। उनकी परिभाषा भी यही कहती है, जो उनकी मौलिक स्थापना है। उसमें भाव-प्रक्रिया में जिसकी कोई जगह नहीं वह 'इच्छा' तो विद्यमान है, पर जिस व्याप्त-परिव्याप्त करने की विशेषता 'भाव' (भावय) के धात्वर्थ से जुड़ी है, उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उत्तेजना से तत्सम्बन्धी शारीरिक परिवर्तन घटित होते ही यह भाव शरीर के साथ-साथ मन में, मानसिकता में भी व्याप्त परिव्याप्त हो जाता है। भाव की यह परिव्याप्ति मनोदैहिक है। शुक्ल जी के अनुसार यह पहले मानसिक है, फिर शारीरिक और जेम्स-लांजे सिद्धान्त के अनुसार यह पहले शारीरिक है, फिर मानसिक। पर दोनों ही स्थितियों में इसका मनोदैहिक व्याप्तीकरण तो अनिवार्यतः विद्यमान है। आश्चर्य है कि शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में 'भाव' के इस स्वरूपगत वैशिष्ट्य का भला क्यों उल्लेख नहीं किया।

'भाव' को जहाँ भारतीय काव्यशास्त्रियों ने पहले से सुषुप्त रूप में हृदयस्थ माना वही पश्चिमी विचारकों ने इसे मूलवृत्ति (Instinct) के रूप में भी देखा। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक मैकडूनल माने जाते हैं। उन्होंने 14 मूलवृत्तियाँ स्वीकार की हैं। इनमें 'भाव' में परिगणित होने वाली भागना, लड़ना, हँसना जैसी मूल वृत्तियाँ भी सम्मिलित हैं। फ्रायड ने जिजीविषा (Eros) और मुमूर्षा (Thanatos) जैसी दो मूल वृत्तियाँ मानी हैं। ये मूल वृत्तियाँ जन्मजात रूप में मनुष्य के अन्तर्मन में निहित होती हैं। पर शुक्ल जी

ने 'भाव' के सन्दर्भ में इस पर भी विचार नहीं किया। वे 'भाव' के स्वरूप को एक व्यापक सन्दर्भ में पुनरीक्षित-परीक्षित कर उस पर मौलिक रूप में चिन्तन नहीं कर सके। वह 'भाव' के लिए 'मनोविकार' शब्द का अपनी समसामयिकता में प्रयोग करने से अपने को रोक भी नहीं सके। शुक्ल जी जिस समय 'मनोविकार' शब्द या पद का प्रयोग कर रहे थे। उस समय 'मनोविकार' मानसिक रोग के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगा था। कभी 'भाव' को 'मनोविकार' कहने से जो अर्थ निर्गत और सम्प्रेषित होता था वह अर्थ आज 'मनोविकार' शब्द से ग्रहण नहीं किया जा पाता है। इसके विपरीत उससे मन की विकृतियों (Diseases) का ज्ञापन होता है। शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं जा सका। शुक्ल जी ने 'भाव' के साथ 'संवेग' पर विचार नहीं किया। 'भाव' और 'संवेग' प्रायः पर्याय है। सक्रिय भाव ही संवेग कहलाते हैं। इसी तरह 'भाव' के सन्दर्भ में 'मूलवृत्ति' (Instinct) पर भी विचार अपेक्षित था। इन सबके अभाव में शुक्ल जी 'भाव' की परिभाषा और उसके स्वरूप-विवेचन को सार्थकता नहीं प्रदान कर सके।

परिभाषा करने के बाद शुक्ल जी ने भाव का जो स्वरूप-विवेचन किया है उसे पढ़कर अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। वे सभी भावों को सुख या दुःख से जोड़ते हैं और यहाँ भी वह चेतन रूप में 'इच्छा' की भूमिका को महत्त्व देते हैं। इसके अभाव में अभिप्रेरण की सक्रियता को भी वह स्वीकार नहीं करते हैं—“अतः जब तक भागना, छिपना या मारना, झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी।” यहाँ पहली द्रष्टव्य बात यह है कि भाव या संवेग के सन्दर्भ में उपर्युक्त क्रियाएँ प्रयत्नज नहीं होतीं, अपितु स्वभावज होती हैं, स्वचालित (Automatic) होती हैं। उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच अन्तराल नहीं होता है और जब होता है तब वहाँ 'इच्छा' का नहीं विवेक का दखल होता है और 'विवेक' उपाय सुझाता है। ऐसा 'भय' के सन्दर्भ में भय की अतात्कालिकता, आसन्नता, सम्भावना आदि को देखकर निश्चित किया जाता है। पर 'भय' की तात्कालिक उत्तेजना की स्थिति में कोई अन्तराल नहीं होता। वहाँ प्रतिक्रिया भाव या संवेग के रूप में त्वरित होती है और स्वचल होती है। वस्तुतः 'इच्छा' को स्वीकार कर शुक्ल जी भाव की पूर्ववर्ती मानसिक स्थिति वाली अपनी मान्यता के साथ-साथ 'इच्छा' की पूर्ववर्ती स्थिति को भी स्वीकार करते हैं। बिना इसके उत्तेजना के उपस्थित होते ही जो शारीरिक परिवर्तन उपस्थित होते हैं, उन्हें शुक्ल जी 'लक्षण-मात्र' कहते हैं—“पर हम चाहे कितना ही उछल-कूदकर हँसें, कितना ही हाथ-पैर पटक कर रोएँ, हम हँसने या रोने का प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण-मात्र हैं, जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। 'इच्छा' के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।” अपनी इस स्थापना-व्याख्या में शुक्ल जी 'इच्छा' के साथ-साथ 'प्रयत्न' को भी सांवेगिक या भाववश होने वाले शारीरिक

परिवर्तन के पूर्व ले आते हैं। कहना न होगा कि उनके द्वारा निर्दिष्ट भाव-विषयक यह सारी मानसिक रासायनिक-प्रक्रिया घोर भ्रान्तिपूर्ण, अतात्त्विक और असंगत है। पर इसे भूल कर जब शुक्ल जी अपने 'उत्साह' नामक निबन्ध में जब यह कहते हैं कि "बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम ही प्रयत्न है," तब उनकी मान्यता और बोध (?) का अन्तर्विरोध खुलकर सामने आ जाता है, क्योंकि भाव के स्वरूप-विवेचन में उन्होंने ही यह स्थापना की है कि "इच्छा के बिना कोई कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।" अब पाठक ऐसी स्थापना करने वाले को क्या समझे और स्वयं इन दोनों में किसे स्वीकार करे?

शुक्ल जी 'भाव' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक और नई और चौंकाने वाली स्थापना करते हैं—"बात यह है कि भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं।" पर यहाँ क्रोध के सन्दर्भ में शुक्ल जी कुछ मुहावरों को गिनाकर वाणी के प्रसार को सीमित ही कर देते हैं। यहाँ यह अपेक्षित था कि वह वाणी के प्रसार की निस्सीमता को निरूपित करने के लिए निस्सीम अपशब्दों (Abuses) या गालियों के धड़ाधड़ प्रयोग का दृष्टान्त देते अथवा उस ओर संकेत अवश्य कर देते। पर इस ओर उनका ध्यान नहीं जा सका, जबकि क्रोध में गालियों के धुआँधार प्रयोग में सभी परिचित हैं। यहाँ शुक्ल जी भावात्मक या सांवेगिक शारीरिक परिवर्तन और भावात्मक या सांवेगिक वाचिक अभिव्यक्ति की तुलना कर रहे हैं। उनकी यह स्वरूप-व्याख्या भी घोर असंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरी है। यहाँ वे सीधे 'भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार' की बात करते हैं, 'इच्छा' की पूर्ववर्तिता की कोई बात नहीं करते, जिस पर अपने पूर्व विवेचन में वे आत्यन्तिक बल दे चुके हैं। दूसरे, वह यहाँ शारीरिक व्यापार से पहले 'प्रयत्न' की स्थिति या उसकी पूर्ववर्तिता की अपनी पूर्व विवेचित मान्यता को भी छोड़ देते हैं और प्रयत्न तथा शारीरिक परिवर्तन वाले व्यापार दोनों की विकल्पात्मक सत्ता को स्वीकार करते हुए कहते हैं—"प्रयत्न या व्यापार"। उनका यह अन्तर्विरोध उनकी स्थापनापरक असंगति को निर्दिष्ट करता है। ऐसा हिन्दी में ही सम्भव है कि लेखक-आलोचक अपने को परब्रह्म मानकर अपनी असंगत स्थापनाएँ पाठक पर थोपता चले। और यह मानकर चले कि उसने जो लिख दिया पाठक उसे स्वीकार कर चले उसकी बुद्धि में उस पर कोई पुनर्विचार करने वाला कभी आएगा नहीं। अतः उसे अपनी स्थापना को पाठकों के सम्मुख रखने के पूर्व किसी भी रूप में उसे पुनर्विचारित करने की कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होती है। अपनी उक्त स्थापना में शुक्ल जी 'भाव' को और 'वाणी के प्रसार' को एक-दूसरे के समानान्तर रूप में प्रस्तुत करते हैं। पर स्थिति ऐसी है नहीं। वस्तुतः यहाँ वे कारण-कार्य नियम को तोड़कर अपने वाग्वल की सृष्टि करते हैं, जिससे पाठक का ध्यान स्थापनागत असंगति को नहीं देख सके। यहाँ भाव या संवेग ही मूल कारण है। जिस तरह उसके द्वारा 'प्रयत्न या व्यापार' प्रेरित होते हैं, उसी तरह

वाचिक अभिव्यक्ति या 'वाणी' भी प्रेरित होती है। अतः शुक्ल जी के ही पूर्वापर सम्बन्ध के दृष्टिकोण से यहाँ शारीरिक और वाचिक दोनों ही परवर्ती अभिव्यक्तियों का कारक 'भाव' है। पर शुक्ल जी यहाँ 'वाणी के प्रसार' को भाव या संवेग-प्रेरित नहीं मानकर उसके समानान्तर एक प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं और भाव-प्रेरित शारीरिक परिवर्तन को इसकी अपेक्षा कहीं सीमित घोषित करते हैं।

शुक्ल जी भाव के स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में भाव या संवेग-प्रेरित शारीरिक परिवर्तन के कर्मपक्ष और उसी भाव से अनुप्रेरित वाणी की मुखरता के पक्ष के बीच न तो सन्तुलना रख पाते हैं और न तथ्यतः उसको विशेष महत्त्व दे पाते हैं, जिसके परिणामवश वह भाव या संवेग-विशेष अस्तित्वमय होता है। वह लिखते हैं, "वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रणक्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं।" यहाँ वे भाव या संवेग के सन्दर्भ में यानी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से वचन पक्ष को महत्त्व और श्रेय देते हैं तथा कर्मपक्ष को उससे अवरकोटिक निरूपित करते हैं। पर ऐसी स्थापना करने के पश्चात् निबन्ध-लेखन के क्रम में उनकी यह मान्यता बदल जाती है और वह इस पृष्ठभूमि में पुनः अन्तर्विरोधी स्थापना कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'उत्साह' नामक भाव का विवेचन करते हुए वह लिखते हैं, "उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है।... कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।"..."हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है।"..."प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।" "कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।"..."अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है।" अपने इस पूरे निबन्ध में उन्होंने कहीं भी 'उत्साह' को द्योतित करने वाली वाचिक अभिव्यक्ति का कोई दृष्टान्त प्रस्तुत नहीं किया है, अपितु इस निबन्ध में हर-कहीं कर्मपक्ष का महत्त्व ही दर्शाया है। इसी कर्मपक्ष को भाव के स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में वह 'हथियार चलाना और रण-क्षेत्र में उछलना-कूदना' कहकर उसकी अप्रतिष्ठा करते हैं। पर अपने 'उत्साह' नामक निबन्ध में एक-दूसरे प्रकार की 'उछल-कूद' को वे महत्त्व देते हैं—"यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों बैठे रह जाएँ या थोड़ा हँस भी दें, तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे। उससे मिलने के लिए दौड़ पकड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-आते दिखाई देंगे।" आखिर ऐसा क्या है कि शुक्ल जी अचानक मित्र के सामने आ-उपस्थित होने पर अपने उत्साह की वाणी से की जाने वाली अनेक प्रकार की उक्तियों का उल्लेख नहीं कर पाते और आगमन का समाचार सुनते ही उसे कर्म-केन्द्रित कर देते हैं। इस प्रकार

‘स्वरूप-विवेचन’ और ‘निबन्ध-लेखन’ की स्थापनाओं का यह पारदर्शी अन्तर्विरोध शुक्ल जी के समीचीन साहित्य-विवेक पर प्रश्न-चिह्न खड़ा कर देता है।

भाव का स्वरूप-विवेचन करते हुए शुक्ल जी यह स्थापना भी कर जाते हैं कि “समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं।” इस प्रकार वे भाव के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। पर ऐसा लिखते हुए वह भाव के साथ ‘मूलवृत्ति’ (Instinct) को भी समेट लेते हैं। यहाँ प्रवृत्तियों से उनका क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। वह सामान्य प्रवृत्तियों की बात कर रहे हैं या मूल प्रवृत्ति की? यदि सामान्य प्रवृत्ति की बात कर रहे हैं, तो उनके द्वारा निरूपित ‘भाव’ मूलवृत्ति (Instinct) की भूमिका में आ जाता है। तभी उनके इस प्रतिपादन को सार्थकता मिल पाती है। ऐसे में ‘भाव’ और ‘मूलवृत्ति’ दोनों के पारस्परिक पार्थक्य या दोनों की एकता के सम्बन्ध में उन्हें इस स्थल पर विचार करना चाहिए था। यदि एकता है, किन-किन भावों की है। तत्पश्चात् भाव का किया जाने वाला प्रतिपादन समीचीन हो पाता।

भाव-विषयक किए जाने वाले स्वरूप-विवेचन के अन्त में शुक्ल जी ने एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है—“जिस प्रकार ज्ञान नरसत्ता के प्रसार के लिए है उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष-प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जाएगा, तब उनके अवतार का उद्देश्य का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा। काव्य-योग (भाव-योग?—लेखक) की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है।” अपनी इस महत्त्वपूर्ण टिप्पणी को शुक्ल जी भाव-विमर्श के साथ समीचीन रूप में तालमेल बिठाते हुए समन्वित नहीं कर पाते हैं। इसके पूर्व वह शासन-क्षेत्र और धर्म-क्षेत्र का उल्लेख करते हैं। शासन की सीमा निर्दिष्ट करते हुए वह कविता को महत्त्व देते हैं और उसे धर्म-क्षेत्र में शक्ति-भावना को जाग्रत् करने वाली के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। यहाँ ‘भाव’ के साथ उपर्युक्त टिप्पणी की अन्विति सम्यक् रूप में नहीं हो पाती है। यदि यह टिप्पणी ‘कविता क्या है’ का एक अनुभाग बनती या ‘इतिहास’ में ‘कामायनी’ पर लिखने के सन्दर्भ में इसे श्रद्धा और मनु के सन्दर्भ में निरूपित किया होता, तो यह अधिकाधिक प्रासंगिक बन पड़ती।

उत्साह को परिभाषित करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है, “साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।” यानी ‘उत्साह’ का मूल आनन्द है। वही विशेष्य है, शेष विशेषण हैं। उचित होगा कि इसकी व्युत्पत्ति और व्युत्पत्त्यर्थ को देख लें। ‘उत्साह’ की व्युत्पत्ति कोशों में प्रायः उत्+सह+घञ् (‘उत्’ उपसर्ग, ‘सह’ धातु और ‘घञ्’ प्रत्यय के संयोग से मानी गई है। यहाँ ‘सह’ धातु का अर्थ ‘सहन करने’ से लिया गया है। पर



इससे उत्साह-विषयक कोई सार्थक व्युत्पत्त्यर्थ नहीं निकल पाता है। इसका व्युत्पत्त्यर्थ होता है अच्छी तरह या चोटी तक सहनशील। पर उत्साह का अर्थ किया जाता है किसी कार्य के लिए प्रसन्न-मन तत्परता से अग्रसर होना। इस प्रकार इसके व्युत्पत्त्यर्थ में प्रसन्नता कहीं नहीं है। हाँ, यदि 'सह' का अर्थ 'साथ' लिया जाए, तो ऊँचे मन से, चढ़ने मन से दृढ़तापूर्वक किसी कार्य या लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसके साथ जुड़ने का भाव 'उत्साह' सिद्ध होता है। यह व्युत्पत्त्यर्थ उत्साह के स्वरूप को सार्थकता प्रदान करता है। यहाँ उपसर्ग और धातु दोनों अपनी सार्थकता दिखाते हैं। यही प्रामाणिक है। पर जिसने भी 'सह' धातु मानते हुए और सहन का अर्थ निर्दष्ट करते हुए 'उत्साह' में प्रसन्नता को जोड़ा उसने अनर्थ किया और 'उत्साह' के अपने अभिप्राय और स्वरूप को दबा दिया। 'उत्' उपसर्ग से जो 'ऊँचे मन से', 'चढ़ते मन से' का व्युत्पत्त्यर्थ ग्रहणीय या ग्राह्य है, उसे विद्वानों ने तिरस्कृत कर दिया और उसका सही लक्ष्यार्थ भी ग्रहण नहीं किया। सही लक्ष्यार्थ है 'संकल्पित मन से', 'कार्य-सिद्धि के प्रति आत्मविश्वास से', जो इस स्थायी भाव के सन्दर्भ में युक्तियुक्त और संगत है। पर इससे 'प्रसन्नता' या आनन्द का अर्थ लेना गलत है, क्योंकि उससे 'संकल्पित चित्त' और आत्मविश्वास पूरित वाला अर्थ दब जाता है, उपेक्षित हो जाता है। इसीलिए मैं प्रसन्नता या आनन्द के साथ जोड़े गए अर्थ से सहमत नहीं हूँ। इसीलिए परिभाषा में आया 'आनन्द' शब्द 'उत्साह' के मूलभूत प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से अपनी उपयुक्तता सिद्ध नहीं कर पाता है। 'साहस' का भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्युत्पत्त्यर्थ से नहीं बन पाता है। पर संकल्प चित्तता, आत्मविश्वासपरकता और दृढ़ता से उसी व्यंजना हो जाती है। उत्साह में साहस की स्थिति होती है और उमंग या जोश की भी स्थिति होती है। पर जिस वीरता का यह स्थायी भाव है, उसमें यह एक प्रकार से आत्मविश्वास के साथ-साथ क्रोध या रोष के भाव से भी जुड़ा हुआ है। आनन्द उसके कर्मक्षेत्र के फलागम की वृत्ति या मनःस्थिति है। अतः उमंग या जोश यहाँ आनन्द से नहीं जुड़कर साहस से जुड़ा हुआ है। साथ ही यहाँ यह भी चिन्त्य है कि आनन्द जैसी अनुभूति भला साहसपूर्ण कैसे हो सकती है? क्या आनन्द शुद्ध आनन्द नहीं होता? इस प्रकार साहसपूर्ण कर्मोन्मुख (युद्धोन्मुख) उमंग या जोश का नाम तो उत्साह सिद्ध होता है, पर 'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग' का नाम नहीं। युद्ध जैसे कर्मक्षेत्र में जाते समय और युद्ध करते समय व्यावहारिक दृष्टि से साहसपूर्ण उमंग या जोश के साथ क्रोध या रोष की स्थिति होती है, आनन्द की नहीं। आनन्द या प्रसन्नता अपनी प्रकृति में एक प्रकार का निष्क्रिय भाव है। यह कर्ममय भाव नहीं है, एक प्रकार से निश्चेष्ट भाव है, जो अनुभव-मात्र है। पर उत्साह निष्क्रिय नहीं, सचेष्ट और कर्मोन्मुख भाव है, जो एक ओर युद्ध-क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्र के प्रहारों से वीरता का प्रदर्शन करता है, तथा दूसरी ओर अपने प्रतिपक्ष का संहार करता है। यहाँ यह हिंस्र कर्म में योद्धा को संलग्न करता और फलागम तक स्वयं को संलग्न बनाए रखता है। 'राम की शक्तिपूजा' में राम-रावण का

युद्ध हो रहा है। रावण राम पर भारी पड़ रहा है। निराला ने लिखा है—“रावण-प्रहार दुर्वार विकल वानर दल उद्धृत लंकापति मर्दित कपि-दल बल विस्तर। ...लोहित लोचन रावण मदमोचन महीयान।” यहाँ रावण उत्साह के साथ लड़ रहा है, पर इसके साथ-साथ क्रोध का भाव भी जुड़ा हुआ है। ‘लोहित लोचन’ से उसके क्रोध का शारीरिक संवेग प्रकट हो रहा है। पर शुक्ल जी का ध्यान इस ओर नहीं गया। उनके द्वारा किया गया ऐसा परिभाषांकन उनमें वस्तुनिष्ठ चिन्तन-विश्लेषण के अभाव और आत्मनिष्ठ, मननहीन चिन्तन-विश्लेषण की स्थिति को ही ज्ञापित करता है।

यदि उत्साह में समाहित विभिन्न अर्थ-परमाणुओं (Atoms of Meaning) का विखण्डन करें, उसके अवयवभूत अर्थ (Contituent Meaning) को विश्लेषित-उद्घाटित करें, तो उसका स्वरूप निम्नांकित होगा—

उत्साह =	+	मन की उच्चता	
	+	साहस	— संशय
	+	आत्मविश्वास	— अनिश्चय
	+	उमंग/जोश	— अनिश्चय/अनिर्णय
	+	संकल्पनिष्ठता/सचेष्टता	— भय
	+	सफलेच्छा/विजयाकांक्षा	
	+	कर्मान्मुखता/कर्मसंलग्नता	
	+	प्रबल युयुत्सा	
	+	क्रुद्धता	
	+	हिंस्रता	
	+	वीरता	

‘उत्साह’ वीरता का स्थायी भाव है। शुक्ल जी ने इसका विवेचन मुख्य रूप में वीरता के सन्दर्भ में ही किया है। अतः इस सन्दर्भ में इसके अर्थ के उपर्युक्त वस्तुनिष्ठ विश्लेषण में कहीं भी आनन्द की स्थिति नहीं है। ‘आनन्द’, ‘उत्साह’ का सहवर्ती भाव नहीं है। वह परवर्ती भाव है। वह युद्ध में सफल होने, विजय की प्राप्ति करने से जुड़ा हुआ है। उत्साह जैसे युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय उत्पन्न होता है, वैसे ही वह युद्ध करते समय भी बना रहता है। इसीलिए वह स्थायी भाव है। आनन्द एक प्रकार का स्थिर भाव है, वह कर्ममय भाव नहीं है। अतः उपर्युक्त दोनों ही स्थितियों में उस जैसे निष्क्रिय भाव का कोई औचित्य नहीं है। उत्साह गत्यात्मक है और वीरता भी गत्यात्मक है। शिवाजी जब अफजल खाँ से मिलने के लिए चले थे तब वह साहस, आत्मविश्वास, मन की उच्चता, उमंग, संकल्पनिष्ठता और विजयाकांक्षा-मिश्रित उत्साह से भरे हुए थे, आनन्द से नहीं। तभी उन्होंने अपनी माँ से कहा था, “मैं उस बकरे का सिर काटकर ले आऊँगा।” अतः शुक्ल जी द्वारा उत्साह की की गई पूर्वोक्त परिभाषा आनन्द के समावेश के कारण त्रुटिपूर्ण और असमीचीन सिद्ध होती है। शुक्ल जी ने

‘मन की उच्चता’ जैसी स्थिति पर ध्यान नहीं दिया। यह स्थिति आत्मविश्वास से बनती है। इसी के कारण साहस उत्पन्न होता है। यह मनःस्थिति आनन्द से सर्वथा विलग होती है।

शुक्ल जी ने दानवीर के सन्दर्भ में उत्साह का विवेचन करने से ठीक पूर्व वीरता के भेद का उल्लेख किया है—“साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा, क्या मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं।” इसके तुरन्त बाद वे पुनः युद्ध-वीरता के सन्दर्भ में उत्साह की स्वरूप-स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताते हैं—“साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी ले सकते हैं जबकि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जाएगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं।” यहाँ शुक्ल जी द्वारा युद्धवीरता के किए गए निरूपण में असन्तुलन दिखता है। वह यहाँ केवल प्राप्त होने वाले आघात, पीड़ा और मृत्यु की चर्चा करते हैं और वीरों को इसकी परवाह नहीं होती, इसको रेखांकित करते हैं। पर यह नहीं बताते कि युद्धवीर उत्साहपूर्वक अस्त्र-शस्त्र का प्रहार करता, प्रतिपक्षियों को आहत करता, उन्हें पीड़ा पहुँचाता और उन्हें मौत के घाट उतारता है। आघात सहना, पीड़ा और मृत्यु प्राप्त करना उत्साहपूर्वक लड़े गए/लड़े जाने वाले युद्ध का परिणाम हो सकता है। इसमें उत्साह के पूर्ण दर्शन नहीं होते, क्योंकि उत्साह युद्ध-व्यापार में दर्श्य होता है, ऐसे ऋणात्मक (—) परिणामों में नहीं। आखिर शुक्ल जी की दृष्टि या चिन्तना यहाँ धनात्मक (+) क्यों नहीं है? उत्साहवर्धन करने वाले सन्दर्भ ही उत्साह-विवेचन के क्रम में क्यों गायब हैं और प्राप्त होने वाली मृत्यु का ही एकमात्र उल्लेख क्यों है? क्यों जिसकी परवाह होनी चाहिए, उसका उल्लेख नहीं है, और क्यों बिना उसके उल्लेख के जिसकी परवाह नहीं होनी चाहिए, उसका उल्लेख है? इसके बाद पुनः वह आनन्द को ले आते हैं। उनके अनुसार साहसी या धीर प्रहार सहते हुए भी जब युद्धकर्म को आनन्द के साथ सम्पन्न करता चला जाएगा तभी वहाँ उत्साह की स्थिति होगी। पर शुक्ल जी के बोध में ‘मन की उच्चता’ और ‘आनन्द’ की स्थिति का पार्थक्य या अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता है। लड़ाका अपनी पीड़ा से उन्मन नहीं होता, वह प्रमन बना रहता है, अपने ‘मन की उच्चता’ को बनाए युद्ध में संलग्न रहता है, पर आनन्द की अनुभूति वहाँ नहीं होती। आनन्द एक स्थिर अनुभूति है और वह फल-प्राप्ति से ही सम्भव है। आनन्द का प्रकटन स्थिर नहीं है। वह अनेक रूपों में सम्भव है। पर शुक्ल जी यहाँ उसके भावन की ही बात करते हैं।

शुक्ल जी ने उत्साह के बाधक तत्त्वों पर कहीं भी विचार नहीं किया है। ‘उत्साह’ के अनेक बाधक तत्त्व भी हैं, जिनका निरूपण किया जाना चाहिए था। युद्ध

कर्म में 'आनन्द' की अनुभूति होना या करना उत्साह का साधक तत्त्व नहीं बनकर बाधक तत्त्व के रूप में उपस्थित होता है। आनन्द के अनुभव में कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। जब गन्तव्य पूरा हो जाता है, प्राप्तव्य मिल जाता है, तभी आनन्द की स्थिति होती है। ऐसे में भला लड़ता हुआ साहसी अपने 'मन की उच्चता' को बनाए रखेगा, 'आत्मविश्वास' से भरा रहेगा, अपनी तत्पर सक्रियता दिखाता रहेगा या आनन्द का अनुभव करेगा? यदि शुक्ल जी 'मन की उच्चता' के पर्याय रूप में इस 'आनन्द' का प्रयोग कर रहे हैं, तो उन्हें 'पर्याय'—चयन में आचार्य वामन की 'पाक'—सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाई है और इस दृष्टि से भी यह असमीचीनता का ही दृष्टान्त है।

'उत्साह' के विवेचन के सन्दर्भ में इस 'आनन्द' ने उन्हें बाँध रखा है और वह स्वयं भी इसे लिखते हुए 'उत्साहित' कम और 'आनन्दित' अधिक हैं। 'दानवीरता' के सन्दर्भ में भी 'आनन्द' उनकी दृष्टि में अनिवार्य है। उनके अनुसार "दानवीर में अर्थत्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जाएगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थत्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।" यहाँ देखने की बात यह है कि 'दान' की दो कोटियाँ हैं—1. स्वैच्छिक दान और 2. याचनानुरूप दान। पहली कोटि का दान स्वैच्छिक होता है। इसमें अपनी इच्छा से अभावग्रस्तों, अकिंचनों को दान किया जाता है। विरल रूप में कभी-कभी कोई-कोई इसमें स्वेच्छया तत्परतापूर्वक अपना सर्वस्व तक दान कर देता है। शुक्ल जी के अनुसार यह सर्वस्व दानी तो दानवीर की कोटि में आ जाता है, क्योंकि वह सज्ञान तौर पर आगे अपने जीवन में आने वाले कष्ट और कठिनाई को सहने के लिए तैयार है। पर शुक्ल जी इस सन्दर्भ में भी यहाँ 'आनन्द' के चिह्न देखना चाहते हैं। मेरी दृष्टि में दानी यह दान अपने मन की उच्च स्थिति में, बिना किसी प्रकार की चिन्ता और फिक्र के संकल्पनिष्ठ रूप में कर रहा है। पर यहाँ जो चीज उसकी मनःस्थिति में देखने की है वह 'आनन्द' से भी बड़ी चीज है। वह उसकी 'निरभिमानता'। दान करते समय दानी को किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी अभिमान नहीं होना चाहिए। यह 'आनन्द' की अपेक्षा से कहीं बड़ी और महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है। यह अनिवार्य है। बिना निरभिमानता के कोई भी दानी दानवीर नहीं हो सकता। 'उत्साह' की समीचीन स्थिति भी निरभिमानता से युक्त होकर ही उपस्थित होती है, आनन्द से युक्त होकर नहीं। 'आनन्द', 'उत्साह' की परवर्ती अनुभूति है। दूसरे शब्दों में दानकर्ता में 'दान' करने का कर्तृत्वभाव, अहंभाव नहीं होना चाहिए। यह भाव ही अभिमान उत्पन्न करता है। यदि शुक्ल जी दानवीरता के सन्दर्भ में 'निरभिमानता' के महत्त्व को दर्शा पाते और उसे

‘उत्साह’ से जोड़ पाते, तो उनकी स्थापना समीचीन सिद्ध हो सकती थी। याचक की मुँहमाँगी, अप्रत्याशित याचना को अभिमान-रहित उत्साह से स्वीकार करते हुए उसे उसकी माँगी वस्तु का दान करना दूसरी कोटि का दान है। कर्ण के द्वारा शरीरस्थ कवच-कुण्डल का दान करना, राजा शिवि के द्वारा शरीर के मांस का दान करते-करते आत्मदान कर देना तथा दधीचि के द्वारा वज्र के निर्माण के लिए अपनी सारी हड्डी का दान कर मृत्यु का वरण कर लेना, इसी कोटि का दान है। इन सबमें दाता का कर्तृत्वबोधविहीन उत्साह की सक्रिय स्थिति प्राप्त होती है।

‘उत्साह’ के विवेचन-क्रम में भी शुक्ल जी परस्पर अन्तर्विरोधी अभिव्यक्ति करने से अपने-आपको बचा नहीं सके हैं। उनकी दो मान्यताओं को क्रमशः देखें—1. “थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है। कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर? हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है।” पर यह विचार समीचीन नहीं है। ‘उत्साह’ में ध्यान को कर्मरूपी लक्ष्य पर केन्द्रित रखना चाहिए। ठीक अर्जुन के लक्ष्यवेध की तरह चिड़िया की आँख की पुतली पर केन्द्रित। तभी सिद्धि मिलती है और वीरता फलित होती है। यदि समाप्ति सफलता-रूप नहीं हुई और विफलता हाथ लगी तो क्या होगा? उत्साह में ध्यान का केन्द्रण अपेक्षित है, उसका फैलाव नहीं। 2. ...“हम कह सकते हैं कि कर्मभावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फलभावना-प्रधान उत्साह तो लोभ का ही एक प्रच्छन्न रूप है।” कहना न होगा कि अपनी एक मान्यता में शुक्ल जी उत्साह में ध्यान को फल-प्राप्ति तक ले जाते हैं, पर अपनी दूसरी मान्यता में वह उसे कर्म तक केन्द्रित कर देते हैं। यहाँ अन्तर्विरोध उनकी ध्यान-शिथिल और ध्यान-केन्द्रित अभिव्यक्तियों के कारण उत्पन्न होता है।

लगभग ‘उत्साह’ में अपने विवेचन के उपान्त तक आते-आते शुक्ल जी पुनः एक सूत्र-वाक्य में अपनी मौलिक स्थापना करते हैं—“कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है।” पर उनकी यह परिभाषात्मक स्थापना व्यापकत्व दोष से भरी है। इसमें छिद्र (Loop Hole) विद्यमान हैं। यदि कर्म में आनन्द प्राप्त करने वाला व्यक्ति प्रत्येक दिन एक ही काम करता और शेष समय में उसका आनन्दानुभव करता रहता आराम फरमाता रहता है, तो उसे कर्मण्य कैसे कहा जाएगा? वस्तुतः कर्मण्य के लिए आनन्द की स्थिति अनिवार्य नहीं है। कर्मण्य की दोषमुक्त परिभाषा कुछ इस तरह की जा सकती है—“निरन्तर अपने कर्म में (उत्साहपूर्वक) तल्लीन रहने वाला व्यक्ति ही कर्मण्य कहला सकता है।”

शुक्ल जी ‘उत्साह’ नामक निबन्ध में कई मनोवृत्तियों के साथ ‘आनन्द’ का अनपेक्षित घालमेल करते हैं, जो न तो वैज्ञानिक है और न मनोवैज्ञानिक। उनके एक उदाहरण पर विचार करें—“किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों

के यहाँ से जब-जब औषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता।” पर क्या वास्तविकता ऐसी है? नए-नए उपचार करने की प्रक्रिया में जो मनोवृत्ति उपचारकर्ता की होती है, वह चिन्ता की, आशा की और सन्तोष-परितोष की होती है। चिन्ता रोगी की स्थिति की, आशा इस बात की कि रोगी नीरोग हो जाएगा और सन्तोष इसलिए कि वह चुपचाप नहीं बैठा है, अपितु रोगी का समुचित उपचार कर रहा है, अपनी ओर से रोगी पर पूरा ध्यान दे रहा है। एक-के-बाद एक प्रत्येक नए उपचार के साथ-साथ आशा उदित होती रहेगी और उसे करने-कराने का परितोष भी होता रहेगा। पर इस उपचार-प्रक्रिया में उपचारकर्ता के चित्त में भला आनन्द का उन्मेष किस तरह हो जाएगा? यह भुक्तभोगी के लिए उसकी मानसिकता और समझ से बाहर है। सांसारिक दृष्टि से यहाँ आनन्द की स्थिति प्रक्रियात्मक नहीं, कर्माधारित नहीं, अपितु फलाधारित होगी, रोगी के नीरोग और स्वस्थ हो जाने पर होगी। यदि वह उपचार करने की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करेगा तो क्या उसे रोगी के साथ उसकी समानुभूति और सहानुभूति हो सकेगी अथवा यहाँ शुक्ल जी का प्रिय साधारणीकरण ही हो जाएगा? मैं नहीं कह सकता कि शुक्ल जी अपने इस निबन्ध में ‘आनन्द’ शब्द की जो बार-बार आवृत्ति कर रहे हैं, उत्साह की जगह उसे ही पूरे निबन्ध का प्रतिपाद्य शब्द (Theme Word) बना दे रहे हैं, उससे वह स्वयं कौन-सा अर्थ ग्रहण कर रहे हैं और कौन-सा अर्थ सम्प्रेषित कर रहे हैं? क्या यह प्रसन्नता या सुख का अर्थ-दायक है? तो आनन्द सुखद परिस्थितियों में होने वाली ऐसी अनुभूति होगी, जिसमें किसी प्रकार की चिन्ता, अभाव और कष्ट नहीं होगा। पर रोगी का उपचारकर्ता चिन्तामुक्त नहीं हो सकता। अभाव का भी कई दृष्टियों से उसे सामना करना पड़ सकता है। दौड़-धूप के लिए वाहन का अभाव और संसाधन सुलभ नहीं रहने पर अर्थ का अभाव। कष्ट तो वह कुछ देर के लिए भूल जा सकता है, पर इस बीच उसे प्रसन्नता या सुखानुभव भला क्योंकि होगा? अब ऐसी स्थापना को असमीचीन और असंगत न कहें, तो क्या कहें?’

उत्साह मन की उच्चता में तत्परता के साथ कर्म से संलग्न करने वाला भाव है। जब यह कर्म-प्रक्रिया में आद्यन्त विद्यमान रहता है तभी लक्ष्य की प्राप्ति हो पाती है। उत्साह का भाव कर्म की प्रेरणा देता है, कर्म में प्रवृत्त करता है और कर्म को सम्पन्नता प्रदान करता है। उत्साह लक्ष्य को पहचानकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए निरन्तरता में कर्म-केन्द्रित होने वाला भाव है। जब किसी बाधक तत्त्व के कारण इसका लोप होने लगता है तब कर्म-केन्द्रण नहीं रह पाता है। इस तरह उत्साह का सीधा सम्बन्ध कर्म-व्यापार से जुड़ा है, कर्म के फलागम से नहीं। कर्म का सुफल कभी परीक्षा के उत्तमोत्तम परिणाम के रूप में प्राप्त होता है कभी निश्चित वृत्तिगत नियुक्ति के रूप

में और कभी यश, सम्मान और पुरस्कार के रूप में। कर्मकर्ता अपने-अपने परिणाम को भी उत्साह से भरा रहकर ही ग्रहण करता है। इस तरह उत्साह की स्थिति प्राप्तव्य रूपी फल को ग्रहण करने में भी दिखती है। मेरी दृष्टि में जब शुक्ल जी कहते हैं कि 'उत्साह' वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है', तब उसे इसी रूप में देखना और लेना चाहिए कि जिस तरह उत्साह की विद्यमानता कर्म-प्रेरणा, कर्म-संलग्नता और कर्म-सम्पन्नता में होती है, उसी तरह उसकी विद्यमानता परीक्षा में प्रथम आने, कहीं नियुक्ति प्राप्त करने और पुरस्कार-सम्मान आदि मिलने के सुपरिणाम के समय भी रहती है। पर यह कहना कि "कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कुछ अनुभूति होने लगती है", उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी अनुभूति कर्म को शिथिल करती है। कर्म में क्रियात्मक भाव होता है, पर फल में भोक्ता भाव होता है। क्रियात्मकता की प्रक्रिया में भोक्ता भाव की अनुभूति बाधक तत्त्व बन जाती है, वह साधक तत्त्व के रूप में नहीं रह पाती। शुक्ल जी फल का प्रलोभन उपस्थित करके कर्म-संलग्नता की बात करते हैं। पर लक्ष्य के प्रति संकल्पनिष्ठता की स्थिति में उसके बोध को बनाए रखने की स्थिति में फल-प्राप्ति के भोग की मिली-जुली स्थिति न तो उचित है और न समीचीन। एक योद्धा यदि रणक्षेत्र में बार-बार यह अनुभव करने लगे कि मैं जीत गया, मैं जीत गया, तो वह शत्रु के प्रहारों और चालों का सामना कैसे कर पाएगा? यहाँ मिली-जुली अनुभूति युयुत्सा की कर्म-संलग्नता और अपनी चाल चलने की मानसिकता से विचलित रूप में उपस्थित होती है, जो योद्धा के रण-कौशल और उसकी विजयिता के लिए उचित नहीं है। यह एक प्रकार की दिवास्वप्निल स्थिति है। यह चल रहे यथार्थ के साथ वायवीय कल्पना का घालमेल है। शुक्ल जी को गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को वह दिया गया सन्देश आगे चलकर स्मरण तो आता है, पर उसका सम्यक् अर्थग्रहण न वह स्वयं करते हैं और न अपने इस निबन्ध के पाठकों को कराना चाहते हैं। वह उसे अन्यथा रूप में (In Distorted Sense) प्रस्तुत करते हैं। गीता कहती है कि कर्मण्य का कर्म पर ही अधिकार है, कभी भी और किसी भी रूप में फल पर नहीं। ऐसे में कर्म-संलग्नता वाले उत्साह में फलानुभव कराना शुक्ल जी की उत्साह-विषयक स्थापना को शिथिलीकृत और असंगत कर देता है।

उत्साह जैसे मनोभाव का गम्भीर विवेचन करने के पश्चात् शुक्ल जी उसे लोक-सन्दर्भ से जोड़कर दृष्टान्तीकृत करते हैं। धर्म से, धार्मिक उच्च कर्मों से वह कर्म-प्रक्रिया में ही आनन्द की स्थिति को निरूपित कर देते हैं तथा सिद्ध करते हैं कि यहाँ आनन्द फल-प्राप्ति के लिए रुका नहीं रहता। उनकी दृष्टि में कर्म-प्रक्रिया में उत्साह अन्तर्व्याप्त रहता है, पर इसका उन्होंने कोई शाब्दिक उल्लेख नहीं किया है। यहाँ शुक्ल जी का प्रतिपादन यथार्थगत नहीं, एक प्रकार का आदर्श प्रतिपादन है, जिसमें केवल कर्मगत आनन्द की स्थिति या उत्साह की अन्तर्व्याप्ति-मात्र नहीं है,

अपितु धार्मिक निष्ठा और पारलौकिक पुण्य-प्राप्ति का भाव निहित है, जिस ओर शुक्ल जी का ध्यान नहीं जा पाया है।

लोक के सन्दर्भ में वह उत्साह को लाभ की स्थिति से जोड़ देते हैं। किसी व्यक्ति को बहुत सारा लाभ होने या बड़ी इच्छा-पूर्ति होने पर वह सामने आने वाले अन्यान्य कामों को भी तत्पर होकर हर्ष के साथ करने लगता है। इसे भी लोग उत्साह ही कहते हैं। शुक्ल जी आनन्द के सन्दर्भान्तरण, फलस्वरूप उत्साह के सन्दर्भान्तरण की बात करते हैं। कभी-कभी एक विषय से उत्पन्न आनन्द अपनी स्फूर्ति के कारण बहुत से अन्य कामों की ओर उन्मुख हो जाता है। यह एक प्रकार से यहाँ उत्साह का ही उन्मुखीकरण है। किसी एक लाभोन्मुख उद्योग में उत्साह के साथ जुड़ा व्यक्ति अन्य कामों में भी उत्साह के साथ जुड़ जाता है। इस तरह उन्होंने जन-साधारण में उत्साह की स्थिति लाभ और फलप्रदता से जुड़ी हुई निर्विष्ट की है। इसी तरह शुक्ल जी उत्साह को व्यक्ति के निजी 'मूड' तक से जोड़ देते हैं। वे उसके उत्साहित चित्त की बात करते हैं। एक सन्दर्भ में उत्साहित चित्त अन्य सन्दर्भों में भी उत्साह दिखा देता है। यहाँ शुक्ल जी उत्साह को उसके अपने सन्दर्भ से बाहर लाकर उसका अर्थ-विस्तार कर देते हैं और लोक-व्यवहारगत अर्थ से उसका अभिप्रेत तक कर देते हैं।

इस निबन्ध का आरम्भ लेखक ने जहाँ गम्भीरतापूर्वक वस्तुनिष्ठ विवेचन से किया है, वहीं इसके अन्त तक यह शुक्लीय गम्भीरता और वस्तुनिष्ठता विद्यमान नहीं रह पाई है। इसका अन्त अत्यन्त सामान्य और आत्मनिष्ठ जैसा हो गया है। यहाँ उदाहरण अधिक हैं और सूत्रीकृत स्थापनाओं का प्रायः अभाव है।

कुल मिलाकर मेरी दृष्टि में युद्ध-वीरता के सन्दर्भ में कर्मोन्मुख उत्साह आनन्द से अभिषिक्त नहीं होकर फ्रायड के द्वारा निरूपित जीवन-वृत्ति (Eros) और मरण-मारण वृत्ति (Thanatos) में मरण-मारण वृत्ति से उन्मथित है। हाँ, यहाँ जीवन-वृत्ति की भी सहयोगी भूमिका है। ऊपर विवेचित शुक्ल जी के एक सैद्धान्तिक और एक व्यावहारिक निबन्ध पर विमर्श करते हुए यह कहना उचित प्रतीत होता है कि शुक्ल जी की स्थापनाओं और मान्यताओं को हिन्दी आलोचना में जो आँख मूँदकर युक्तियुक्त और प्रामाणिक मान लेने की प्रवृत्ति है वह उचित नहीं है। शुक्ल जी के प्रति हिन्दी आलोचना में वीरपूजा का भाव बनाए रखकर भी उनकी श्रेष्ठता और महत्त्वपूर्णता के बावजूद उनमें चिन्तनात्मक असमीचीनता भी है, जिसे ऊपर सोदाहरण विवेचित किया जा चुका है। इसे स्वीकार किया जाना चाहिए और उनके लेखन को गतानुगतिक प्रशंसात्मक ढंग से नहीं पढ़कर उन पर चिन्तनात्मक दृष्टि से विचार किए जाने की अपेक्षा है, जिससे हिन्दी आलोचना का चिन्तनात्मक विकास हो सके।



## प्रेमचंद का राजनीति-दर्शन

---

डॉ. कमल किशोर गोयनका\*

भारत के प्रथम राजनीतिक उपन्यास 'आनन्दमठ' से लेकर बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दौर तक राजनीति ने इतने रूप बदले हैं तथा साहित्य से उसके सम्बन्धों में इतनी बहुरूपता आई है कि साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों पर कुछ विचार कर लेना उपयुक्त समझता हूँ। इन दोनों के सम्बन्धों में एक गहरी विभाजक रेखा स्पष्ट दिखाई देती है, एक अंग्रेजी दासता के काल में तथा दूसरे, भारतीय स्वतन्त्रता के काल में साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों में जमीन आसमान का अन्तर दिखाई देता है। आज स्वतन्त्र भारत में राजनीति एक बदनाम शब्द है। देश में प्रजातन्त्र है, प्रत्येक नागरिक को अपने शासक चुनने का अधिकार है, चुनाव भी समय पर होते हैं और संविधान के अनुरूप सरकार भी बनती हैं, किन्तु राजनीति अब लोक-सेवा नहीं स्वार्थ-सेवा हो गई है। भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं, जो सत्ता के लिए लड़ते रहते हैं, वहाँ तक कि आतंक और हिंसा को भी शास्त्र बना रहे हैं। राजनीति ने देश को धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा, आदि के आधार पर बाँट दिया है और जो दल भारत को एक राष्ट्र, एक इकाई के रूप में बनाकर रखने तथा विकसित करने का ध्येय लेकर चल रहा है, उसे हिन्दू साम्प्रदायिक कहकर सत्ता से दूर रखने का प्रयत्न हो रहा है। स्थिति यह है कि राजनीति में आए असामाजिक, अंतर्राष्ट्रीय तथा अपराधी तत्त्वों ने देश को हिला दिया है और अधिकांश जनता के मन में राजनीति, राजनीतिक दल और राजनेताओं के प्रति कठोर एवं तीखी आलोचना से भर दिया है। राजनीति आज एक प्रतिष्ठान बन गई है, सत्ता की, धन की, शत्रुओं को पराजित करके अपने प्रभुत्व की स्थापना की और सभी प्रकार के गैर-कानूनी काम की। यह एक विनाशकारी स्थिति है कि जनता के वोटों को धन या शक्ति से प्राप्त करके सत्ता की कुर्सी हथिया कर प्रजातन्त्र की नैतिकता और मूल्यवत्ता के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ? राजनीति

---

\*पता: ए-98, अशोक बिहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052

लोक-सेवा के लिए है, प्रजा के सम्पूर्ण विकास के लिए है, तथा प्रजातान्त्रिक शक्तियों और प्रवृत्तियों के विकास के लिए है।

भारत में आजादी के लगभग पचास वर्ष में राजनीति का ऐसा रूप हो गया है और इस राजनीति के प्रति साहित्यकार का दायित्व भी बढ़ गया है। साहित्यकार एक सचेत नागरिक भी है, और वह किसी दल का सदस्य भी हो सकता है, किन्तु उसे सत्ता-पक्ष की अपेक्षा प्रतिपक्ष का साथ देना होता है, क्योंकि वह कुछ सत्ताधारियों का नहीं आम जनता का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि वह सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर लोक-सेवा तथा लोक-मंगल के लिए समर्पित हो। साहित्यकारों के सम्मुख एक बात और स्पष्ट होनी चाहिए कि साहित्य राजनीतिक दलों का पैम्फलेट नहीं है, बल्कि मानव-जीवन का दर्पण है, उसका आईना है। यह सत्य है कि राजनीति के पास जीवन को संचालित एवं नियंत्रित करने की शक्ति है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार राजनीतिक दलों का पिछलग्गू और प्रवक्ता बन जाए और संकीर्ण दलगत राजनीति का हिस्सा बनकर राजनीतिक दल के मेनिफेस्टो और प्रस्तावों को साहित्य का जामा पहनाता रहे। अमृतराय का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि आदमी साहित्य पढ़ता है तो साहित्य पढ़ना चाहता है, राजनीति नहीं पढ़ना चाहता, क्योंकि राजनीति ही पढ़नी होगी तो उसके लिए ढेरों पोथियाँ हैं।<sup>1</sup> लेकिन मार्क्सवादी लेखकों एवं चिन्तकों की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। अमेरिका के प्रख्यात मार्क्सवादी लेखक हावर्ड फास्ट ने लिखा कि राजनीति को कला से अलग करना वैसा ही है, जैसे कला को स्वयं शब्दों से अलग कर देना। राजनीति सामाजिक यथार्थ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है, अतः वे प्रतिक्रियावादी हैं, जो राजनीति से कला के अलगाव की बात करते हैं और यह भी झूठा आरोप है कि कम्युनिस्ट कला को राजनीति का मोहरा बना देंगे।<sup>2</sup> उनका यह वक्तव्य स्पष्ट करता है कि वे कला या साहित्य को राजनीति के लिए इस्तेमाल करने के लिए प्रतिबद्ध हैं और उनके जैसे कुछ मार्क्सवादी आलोचक और लेखक भी भारत में इसके लिए संघर्ष करते रहे हैं। डॉ. नामवर सिंह ने 'आलोचना' की ओर से मार्च-अप्रैल, 1974 में दो विचार गोष्ठियों की थीं, जिनमें मार्क्सवादी आलोचक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने 'प्रगतिवाद : मूल्य और आन्दोलन, नये सन्दर्भ में' लेख पढ़ा था<sup>3</sup>, जिसमें उन्होंने साहित्य को कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्तों और प्रस्तावों के प्रवक्ता के रूप में स्थापित किया तथा जो मार्क्सवादी लेखक 'दलगत राजनीति' एवं 'दलीय स्वार्थ' से ऊपर उठने का नारा दे रहे थे, उनको 'प्रतिक्रान्तिकारी' और 'अवसरवादी गद्दार गुट' तक घोषित कर दिया। मुरली जी ने ऐसे लेखकों में शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, शमशेर, नरेश मेहता, नेमिचन्द्र जैन, राजीव सक्सेना आदि कई लेखकों की चर्चा की है, जो पार्टी निर्देशों के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। डॉ. नामवर सिंह इससे पूर्व कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों का पद्यानुवाद करने का विरोध कर चुके थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'लेनिन और भारतीय

साहित्य' में लिखा कि रचना विचार पर्याय मान ली गई और आलोचकों की इस माँग की पूर्ति में धीरे-धीरे पार्टी के राजनीतिक दस्तावेजों का पद्यानुवाद शुरू हुआ। विषय के रूप में सिर्फ किसान और मजदूर रह गए और विषय-वस्तु के रूप में आर्थिक शोषण। रूप उद्बोधन मात्र और भाषा के नाम पर केवल भाषण।'<sup>4</sup> डॉ. नामवर सिंह ने पुनः 'आलोचना' के एक सम्पादकीय में मुरली मनोहर प्रसाद सिंह की पार्टी-लाइन की आलोचना की और लिखा कि साहित्य में राजनीति का रूपान्तर, राजनीतिक संघर्ष की रणनीति और कार्यनीति 'साहित्य पर राजनीतिक बलात्कार' है और वामपंथी लेखकों को 'पार्टी की राजनीतिक लाइन के निष्ठापूर्ण परम्परा और अनुवाद की अपेक्षा अपने आसपास की जिन्दगी और वास्तविकता के प्रति आलोचनात्मक 'स्वचेतना' को जाग्रत और विकसित करना चाहिए।<sup>5</sup>

साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों में मूल बात यह है कि साहित्यकार को राजनीति का दास, अनुयायी अथवा सहचर बनना उचित नहीं है, अन्यथा वही होगा, जो भारत में इमर्जेन्सी काल में हुआ, जब देश के असंख्य लेखकों ने तानाशाही के सम्मुख समर्पण कर दिया और जिन्होंने नहीं किया, उनमें से मेरे जैसे हजारों लेखक जेल की कोठरी में डाल दिए गए। सत्ता की तानाशाही ताकतों ने अनेक बार साहित्यकार को अपना गुलाम बनाना चाहा है, अपने गुलाम और चारण पैदा करने चाहे हैं और कुछ ही ऐसे साहित्यकार निकले हैं, जो निर्भय होकर राजनीति के दंश को झेलते रहे हैं और जनता में जागृति उत्पन्न करते रहे हैं।

स्वतन्त्रता से पूर्व अंग्रेजों की गुलामी के दौर में साहित्य पर राजनीति का अंकुश और भी भयावह था। सन् 1857 की सशस्त्र क्रांति को पूर्णतः दबाकर अंग्रेजों ने सभी ओर भारतीयों पर क्रूर अत्याचार किए और जनता में आतंक फैला दिया। स्वामी दयानन्द ने इस पर भी 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा कि जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है, लेकिन 'आनन्दमठ' (वर्ष 1981-82) में बंकिमचन्द्र ने अंग्रेजों के प्रकोप से बचने के लिए कुछ संशोधन तो बाद के संस्करणों में किया, परन्तु अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का मुख्य स्वर बना रहा। इस उपन्यास के प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' स्वतन्त्रता का बीज-मन्त्र बना और सारे देश में देश-भक्ति और स्वराज्य की प्रबल भावना जाग्रत हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा के बावजूद भारतीय नवजागरण तथा चारों ओर सुधार की प्रवृत्ति का साहित्य के माध्यम से सूत्रपात किया। उनकी प्रसिद्ध कृति 'भारत-दुर्दशा' तथा अन्य कृतियों में भारत की राजनीति का व्यापक चित्रण है और देश की दुर्दशा के बीच स्व-शासन की प्रबल कामना है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के साथ राजनीति के सम्बन्धों को पहचाना और उसे कुछ सीमाओं के साथ अभिव्यक्त किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी में प्रेमचन्द ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने राजनीति से साहित्य का सम्बन्ध ही स्थापित नहीं किया, राजनीति को जीवन का

हिस्सा बनाया, कांग्रेस पार्टी के सदस्य बने और अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों तथा घटनाओं का प्रचुरता से चित्रण किया। प्रेमचन्द ने 3 जून 1932 को पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को पत्र में लिखा था, “मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा नहीं। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बंगले की मुझे हविश नहीं। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य ही हो।”<sup>6</sup> प्रेमचन्द में देश-भक्ति तथा विदेशी सरकार के प्रति विद्रोह की भावना आरम्भ से ही थी। सन् 1908 में ‘सोजेवतन’, उर्दू कहानी-संग्रह के प्रकाशन पर उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि नई पीढ़ी के जिगर पर देश-प्रेम की असमत का नशा जमना आवश्यक है। इस संग्रह की एक कहानी ‘दुनिया का सबसे अनमोल रत्न’ का निष्कर्ष है, “खून का वह आखिरी कतरा जो वतन की हिफाजत में गिरे दुनिया का सबसे अनमोल रत्न है।”<sup>7</sup> इस कहानी-संग्रह पर अंग्रेज कलेक्टर ने उन्हें बुलाकर ‘राजद्रोहात्मक’ कहानियों के लिए धमकाया और कहा, “तुम्हारी कहानियों में ‘सिडीशन’ भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट दिए जाते।” प्रेमचन्द को पुस्तक की बनी प्रतियाँ सरकार के हवाले करनी पड़ी और उन्हें अपना लेखकीय नाम बदलकर ‘प्रेमचन्द’ रखना पड़ा।

प्रेमचन्द के जीवन में राजनीतिक घटनाओं तथा राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बन्ध बढ़ता गया। एक सरकारी इन्स्पेक्टर ने जी-हजुरी करने के लिए रौब झाड़ा तो वे झुके नहीं और अदालत तक जाने को तैयार हो गए। महात्मा गाँधी ने जब 1920-21 में असहयोग आन्दोलन शुरू किया तो 15 फरवरी 1921 को बीस साल की सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। इससे पूर्व वे आर्य समाज के सदस्य थे और अब कांग्रेस के भी सदस्य बने और कांग्रेस दफ्तर में जाकर कभी-कभी कुछ सेवा भी करते। महात्मा गाँधी ने जब नमक आन्दोलन शुरू किया तो पति-पत्नी दोनों स्वयं सेवकों को आन्दोलन के लिए विदा करते। इस बीच प्रेमचन्द स्वयं जेल जाना चाहते थे कि उनकी पत्नी शिवरानी देवी स्वयं विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के अपराध में गिरफ्तार हुई और दो महीने की सजा हुई। प्रेमचन्द ने जब ‘हंस’ मासिक और ‘जागरण’ साप्ताहिक निकाले तो अंग्रेजी सरकार ने अनेक बार उन पर सेंसरसिप लागू की, जमानत माँगी और जमानत न देने पर पत्रिकाओं को बन्द करने का आदेश दिया। प्रेमचन्द ने अपने 9 अगस्त 1932 को जिला मजिस्ट्रेट को लिखे एक स्पष्टीकरण में यद्यपि राजनीति से दूर रहने का वायदा किया, किन्तु सच है कि वे जीवन पर्यन्त भारत की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करते रहे और निकट परिस्थितियों में हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अंग्रेजों के सभी प्रकार के अत्याचार सहन करते हुए ‘स्वराज्य’ के मूल लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध बने रहे।

प्रेमचन्द ने साहित्य और राजनीति के सम्बन्धों को एक नया मोड़ दिया, और उन्हें परिभाषित किया। उन्होंने एक बार अपनी पत्नी शिवरानी से कहा था कि जब तक साहित्य की तरक्की नहीं होगी, समाज और राजनीति भी ज्यों-के-त्यों पड़े रहेंगे। साहित्य, समाज और राजनीति के सम्बन्ध अटूट हैं और तीनों आदमी के कल्याण के लिए हैं।<sup>8</sup> उन्होंने अपने प्रसिद्ध भाषण, 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्घाटन पर कहा था कि साहित्य (अथवा साहित्यकार) "देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"<sup>9</sup> प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्यिक कृतित्व इसी विचार का जीवन्त प्रमाण है कि वे राजनीति, राजनीतिक संकट और संघर्ष तथा देश की राजनीति स्वतन्त्रता को अपना प्रमुख लक्ष्य मानकर मार्ग दिखानेवाली मशाल की तरह निरन्तर जलते रहे और साहित्य के द्वारा जन-जागरण करते रहे।

प्रेमचन्द का राजनीति-दर्शन उनके लेखों, सम्पादकीयों, छोटी-छोटी टिप्पणियों, पत्रों आदि के साथ उनकी कहानियों और उपन्यासों दोनों में ही प्राप्त होता है। प्रेमचन्द ने यद्यपि अपने साहित्य में समाज, धर्म, अर्थ, संस्कृति, इतिहास, शहर और गाँव आदि अनेक विषयों को विस्तार से चित्रित किया है, किन्तु सभी का मूल है विदेशी दासता से मुक्ति और स्वराज्य की स्थापना। लेकिन यहाँ हम उनके राजनीतिक चिन्तन और विचारधारा पर ही प्रमुख रूप से विचार कर रहे हैं।

प्रेमचन्द के लेखों, सम्पादकीयों तथा अन्य टिप्पणियों में उनके राजनीति-दर्शन के विविध पक्ष मिलते हैं। एक प्रकार से यह उनका विश्व-दर्शन है, जिसमें स्वदेश और परदेश दोनों के बारे में उनके विचार-बिन्दु प्राप्त होते हैं। स्वदेश की राजनीति में वे सन् 1916 में एक टिप्पणी में सर्वप्रथम महात्मा गाँधी के 'राष्ट्रीय जीवन में पदार्पण करने और व्यावहारिक उद्योग' का मार्ग दिखाने का स्वागत करते हैं।<sup>10</sup> 'स्वदेश' के प्रथम अंक के सम्पादकीय में उन्होंने प्रजातन्त्र की प्रवृत्ति के विस्तार, जनता के अधिकारों में वृद्धि को नए युग की विशेषता बताया और लिखा कि हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है।<sup>11</sup> उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख 'नया जमाना : पुराना जमाना'<sup>12</sup> में जो, उर्दू पत्रिका 'जमाना', फरवरी-1919 में छपा था, लिखा कि नए जमाने ने 'बेजबानों' को वाणी दी है और किसान तथा मजदूर समझने लगा है कि सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति हमारे हाथों से ही होती है। आप स्वराज्य की कल्पना का मजा ले-लेकर खूब फूलें और बगलें बजाएँ, मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्य का ध्यान रखना भी जरूरी है। आप स्वराज्य की हाँक लगाइए, सेल्फ गवर्नमेंट की बात कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की माँग कीजिए, जनता को इन चीजों से कोई मतलब नहीं, क्योंकि कोई कारण नहीं कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज्यादा पसन्द करे।<sup>13</sup> प्रेमचन्द का स्पष्ट कथन है कि आनेवाला जमाना 'किसानों और मजदूरों' का है और उनकी स्वतन्त्रता के बिना स्वराज्य का कोई मतलब नहीं है।

प्रेमचन्द की यही विचार-दृष्टि उनके भावी लेखों में भी प्राप्त होती है। महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन पर उन्होंने खूब लिखा, उसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं का विश्लेषण किया, सहयोगी और असहयोगी दोनों का चरित्र प्रस्तुत किया और स्वराज्य के कायदे पर एक विस्तृत लेख लिखा।<sup>14</sup> इस लेख में प्रेमचन्द ने स्वराज्य अर्थात् प्रजा के शासन से ही भौतिक, आर्थिक, मानसिक तथा नैतिक विकास और उन्नति होने पर बल दिया और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चलनेवाले स्वाधीनता संग्राम में सहयोग-सहायता देने के लिए प्रेरित किया। इसके बाद उनके अधिकांश राजनीतिक लेखों में महात्मा गाँधी की बराबर चर्चा है और उनका समर्थन है। 'हंस' के प्रथम अंक (मार्च, 1930) में उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने सम्पादकीय को 'राजनीति' कहते हुए अपने दृष्टिकोण के बारे में लिखा कि महात्मा गाँधी ने 'स्वाधीनता' के विचार की सृष्टि की है और इस संग्राम में विजयी हो, वही हमारा ध्येय और नीति होगी और यही उसकी राजनीति भारत ने शान्तिमय सयर की भेरी बना दी है। 'हंस' भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्ही-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए, समुद्र पाटने-आजादी के जंग में योग देनेचला है।<sup>15</sup> इसी अंक में अपनी एक दूसरी टिप्पणी में उन्होंने डोमिनियन स्टेट के स्थान पर 'स्वराज्य' का समर्थन किया, क्योंकि स्वराज्य में किसानों, मजदूरों, निर्बलों, गरीबों की आवाज प्रबल होगी और जमींदारों, राजे-महाराजों, धनीयों एवं शिक्षितों को गरीबों का चूसने का अवसर नहीं मिलेगा।<sup>16</sup> प्रेमचन्द साफ शब्दों में कहते हैं कि हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से ही नहीं है, बल्कि हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है, क्योंकि यह दिखाई देता है कि इस आजादी की लड़ाई को कुचलने के लिए दोनों ही मिल जाएँगे।<sup>17</sup> अपने 'दमन'<sup>18</sup> शीर्षक लेख ('हंस', मई, 1930) में उन्होंने अंग्रेजी दमन-चक्र का डटकर विरोध किया और लिखा कि यह आन्दोलन कांग्रेस के थोड़े-से आदमियों का नहीं है, बल्कि यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता-प्रेम की विकल जागृति है और महात्मा गाँधी इसके जीते-जागते अवतार हैं।<sup>19</sup> प्रेमचन्द मानते हैं कि यह युग स्वराज्य का युग है, जनता एकाधिपत्य को सहन नहीं कर सकती, चाहे वह स्वदेशी ही क्यों न हो।<sup>20</sup> वे अंग्रेजों की भेद-नीति पर क्षुब्ध हैं, क्योंकि वे हिन्दू-मुसलमान, अछूत-सबूत, को लड़ाकर तथा सिक्ख-ईसाइयों को भी अलग-अलग करके देश की एकता तथा स्वराज्य-आन्दोलन को तोड़ना चाहते हैं, लेकिन कांग्रेस जन-सत्ता चाहती है, विभिन्नता में एकता चाहती है, निर्धनता और भेदभाव मिटाना चाहती है तथा पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहती है।<sup>21</sup>

प्रेमचन्द जनता की राजनीतिक जाग्रति को अनिवार्य मानते हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद भारत की परम्परा के प्रतिकूल हैं, क्योंकि भारत ने कभी किसी को गुलाम नहीं बनाया, उनके हक छीनकर अपने देशवासियों को कभी नहीं दिए। भारत की सबसे बड़ी गलती थी कि उसने जनता को राजनीतिक वातावरण से बिल्कुल अलग रखा। जनता में इस

राजनीतिक चेतना के आने से वह अपने अधिकारों की रक्षा करना सीख जाएगी और शासन चाहे बादशाही हो, कुबेरशाही या प्रजाशाही हो, उसके विरुद्ध आन्दोलन होने लगता है। उन्होंने 'कम्युनिज्म' के भी पतन की घोषणा करते हुए इसी लेख में लिखा कि कम्युनिज्म और फासिज्म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाए हुए हैं। ज्योंही वे इस आदर्श से गिर जाएँगे, जनता फिर चंचल हो जाएगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने की चेष्टा करेगी।<sup>22</sup> इस भविष्यवाणी के सन्दर्भ में यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि प्रेमचन्द पर सन् 1918-19 से बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव था और वे लेखों में भी इसकी चर्चा करते रहे, लेकिन महात्मा गाँधी के प्रभाव के कारण और अपने भारतीय संस्कारों के कारण वे पूर्णतः बोल्शेविक समर्थक नहीं बन सके। उनका विचार था कि बीसवीं सदी सोशलिज्म की सदी है जो सम्भव है आगे चलकर कम्युनिज्म का रूप धारण कर ले। महात्मा गाँधी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्युनिज्म से भी, वह अपरिग्रहवादी हैं।<sup>23</sup> वास्तव में प्रेमचन्द ने बम्बई में 'दिसंबर, 1934' को दिए एक इन्टरव्यू में कहा था कि मैं कम्युनिस्ट हूँ, मगर मेरा कम्युनिज्म बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। हमारे समाज में जमींदार, साहूकार, यह किसान का शोषण करने वाला समाज बिल्कुल रहेगा ही नहीं।<sup>24</sup> उनकी राजनीति-दृष्टि में मुसोलिनी, हिटलर तथा स्टालिन प्रजाहित के लिए शासक बने थे, अधिकार-लालसा में उनका कोई स्वार्थ नहीं है और न पशुबल से राज्य का संचालन कर रहे हैं।<sup>25</sup> लेकिन प्रेमचन्द की यह धारणा स्थायी नहीं थी और साथ ही वे भविष्य का इतिहास भी नहीं देख सकते थे, परन्तु वे रूस की प्रजा सत्ता का रहस्य समझ रहे थे। उन्होंने 22 मई, 1933 को 'जागरण' में लिखा कि साम्राज्य लिप्सा हमारी इच्छा का केन्द्र है और साम्राज्य विरोधी रूस भी चाहता है कि जमाना 'सोवियत' हो जाए। उसे 'विचार का साम्राज्य' चाहिए।<sup>26</sup> इसी कारण वे स्पष्ट कहते हैं कि हमें तो उन्नति के लिए से ऐसे विधानों की जरूरत है, जो समाज में विप्लव किए बिना ही काम में लाए जा सकें। हम श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते।<sup>27</sup> उन्होंने और भी स्पष्ट लिखा, लाल क्रान्ति को हम भी नहीं चाहते।<sup>28</sup> इस प्रकार प्रेमचन्द रूस जैसा किसानों-मजदूरों का स्वराज्य चाहते हैं, गाँधी भी यही चाहते थे, और कोई भी यही चाहेगा, लेकिन प्रेमचन्द जो नहीं चाहते थे, वह है तानाशाही, हिंसा, जनतन्त्र का नाश, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण। उन्होंने 26 दिसम्बर, 1934 को इन्द्रनाथ मदान को पत्र में लिखा था कि मेरा आदर्श समाज वह है, जिसमें सबको समान अवसर मिले। विकास को छोड़कर और किस जरिये से हम इस मंजिल पर पहुँच सकते हैं। लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्त्व है। कोई समाज व्यवस्था नहीं बन सकती, जबकि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों। कहना सन्देहास्पद है कि क्रान्ति से हम कहाँ पहुँचेंगे। यह हो सकता है कि हम उसके जरिये और भी बुरी डिक्टेटरणीय पर पहुँचें, जिसमें रंचमात्र व्यक्ति-स्वाधीनता न हो।

मैं रंग-ढंग सब बदल देना चाहता हूँ, पर ध्वंस नहीं करना चाहता।<sup>29</sup> इस प्रकार प्रेमचन्द व्यक्ति भी चाहते हैं और व्यवस्था भी, जो मार्क्सवाद या वर्गवाद में नहीं है। यह शुद्ध मानवतावादी राजनीति-दर्शन है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों—उनके सर्जनात्मक साहित्य में भी उनका यह राजनीति-दर्शन इसी विपुलता और प्रबलता से अभिव्यक्त हुआ है। ‘सोजे वतन’ की देशप्रेम की कहानियों के संग्रह पर अंग्रेजी सेंसरशिप के कारण उन्होंने अपना नाम बदलकर प्रेमचन्द रखा और कुछ समय के लिए शुद्ध देशप्रेम की कहानियों के स्थान पर सामाजिक जीवन की समस्याओं पर कहानियाँ-उपन्यास लिखे। उनके लिए सामाजिक जागृति भी स्वराज्यवादी का ही अंग थी। ‘सोजेवतन’ के प्रकाशन वर्ष 1908 से लेकर सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के वर्ष 1921 के अप्रैल तक इस प्रकार की कुछ प्रसिद्ध सामाजिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जैसे ‘बड़े घर की बेटी’ (1910), ‘नमक का दारोगा’ (1913), ‘खून सफेद’ (1914), ‘अनाथ लड़की’ (1914), ‘बेटी का धन’ (1915), ‘पंच परमेश्वर’ (1916), ‘सेवा-मार्ग’ (1919), ‘दफ्तरी’ (1919), ‘बूढ़ी काकी’ (1921) आदि, परन्तु इस काल में कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ भी प्रकाशित हुईं, जिनके द्वारा उन्होंने इतिहास के उन अध्यायों को चित्रित किया, जो पाठकों के मन में पुरातन के प्रति गौरव तथा वर्तमान के लिए कुछ करने की प्रेरणा दे सके। इन कहानियों में ‘रानी सारन्धा’, ‘विक्रमादित्य का तेगा’, ‘राजा हरदोल’, ‘आल्हा’, ‘राजहठ’, ‘मर्यादा की वेदी’, ‘पाप का अग्निकुंड’ आदि उल्लेखनीय हैं, जिनमें हिन्दू एवं राजपूत राजाओं, सेनापतियों तथा वीरांगनाओं के अद्भुत न्याय, साहस, वीरता, त्याग, बलिदान, देश-भक्ति आदि की प्रेरणादायक तथा गौरवपूर्ण कथाएँ हैं, जो उस दासता के काल में अपने अतीत के प्रति गौरव तथा सम्मान का भाव उत्पन्न करती हैं और अंग्रेजों की श्रेष्ठता के अभिमान के दौर में हीनता-बोध से उबारने का सफल प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार ये ऐतिहासिक कहानियाँ भी अपने देश के अतीत के माननीय गुणों के प्रति निष्ठावान बनाते हुए उसकी पुनः स्थापना का भाव उत्पन्न करती हैं।

प्रेमचंद के फरवरी, 1921 में सरकारी नौकरी से इस्तीफे, इस इस्तीफे पर आधारित कहानी ‘लाल फीता’ (जुलाई, 1921) तथा ‘प्रेमाश्रम’ (जनवरी, 1922) उपन्यास से उनके राजनीति-दर्शन का एक नया युग शुरू होता है। ‘लाल फीता’ कहानी का नायक हरि विलास डिप्टी मजिस्ट्रेट होकर भी देश-भक्तों, जाति-सेवकों तथा सुधारकों पर कठोर दृष्टि रखने के सरकारी आदेश के विरुद्ध अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे देता है और घर में जाकर खेती करने का निर्णय करता है। यह कहानी पाठकों को अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण तथा भारत विरोधी नीति को अस्वीकार करने की प्रेरणा देती है। ‘प्रेमाश्रम’ को कुछ आलोचकों ने ‘राजनीतिक उपन्यास’ घोषित किया है, परन्तु उसमें सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्न प्रमुख हो गए



हैं। यह सत्य है कि जो समस्याएँ उपन्यास में हैं, वे अंग्रेजों की पराधीनता से ही उत्पन्न हुई हैं। ये समस्याएँ हैं पश्चिमी शिक्षा तथा जीवन-मूल्यों की, अंग्रेजी शासन-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न जमींदारी व्यवस्था एवं किसानों के शोषण की। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर का द्वन्द्व, लखनपुर गाँव में जमींदार के अत्याचार, कारिन्दों, पुलिस-तंत्र का अन्याय आदि अनेक प्रकार की अमानवीय परिस्थितियों का उद्घाटन करती हैं। 'प्रेमाश्रम' में बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव बलराज के माध्यम से आया है, लेकिन इस उपन्यास पर महात्मा गाँधी के पश्चिम और भारत की संस्कृति सम्बन्धी विचार, किसान आन्दोलन में उनके भाग लेने तथा उन्हें संगठित करने के प्रयास, जमींदारी के स्थान पर ट्रस्टीशिप, हृदय-परिवर्तन, अहिंसात्मक सुधार, राम-राज्य आदि का इतना गहरा प्रभाव है कि उपन्यास पर बोल्शेविक प्रभाव धूमिल हो गया है। उपन्यास का राजनीतिक पक्ष यह है कि अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति तथा उनकी शासन-व्यवस्था को देश के लिए घातक बताने के साथ प्रमुख रूप से भारतीय जीवन मूल्यों तथा गाँधी के अनेक विचार-बिन्दुओं को देश की कृषक प्रधान जनता के लिए उपयोगी सिद्ध किया गया है।

'प्रेमाश्रम' से 'रंगभूमि' उपन्यास तक प्रेमचन्द ने 'स्वत्व-रक्षा' (जुलाई, 1922), 'चकमा' (नवम्बर, 1922), 'परीक्षा' (जनवरी, 1923), 'राज्य-भक्त' (फरवरी, 1923), 'सत्याग्रह' (दिसम्बर, 1923), 'शतरंज के खिलाड़ी', (अक्टूबर, 1924) आदि कहानियों के द्वारा अंग्रेजी शासन में अपने अधिकार पहचानने, अपनी अस्मिता और प्रतिशोध की क्षमता को बनाए रखने के लिए प्रेरित करते हैं। उनका प्रसिद्ध महाकाव्यात्मक उपन्यास 'रंगभूमि' तो अपने युग की राजनीति का विशद आख्यान है। प्रेमचन्द ने स्वयं इसे 'राजनीतिक' उपन्यास माना है।<sup>30</sup> और पं. नन्द दुलारे वाजपेयी भी इसमें 'राजनीतिक घटनावली की प्रधानता' तथा सूरदास को 'स्वाधीनता कामी भारतीय जीवन का प्रतिनिधि'<sup>31</sup> मानते हैं।

उपन्यास के प्रकाशन के बाद 'चाँद' पत्रिका के मई-जून 1925 के अंक में इसे 'राजनीतिक ज्ञान का अपूर्व ग्रन्थ' कहा गया है। अभिप्राय यह है कि 'रंगभूमि' उपन्यास भारतीय जनता की संघर्षगाथा को ध्वनित करनेवाला उपन्यास है। महात्मा गाँधी ने 4 अप्रैल 1920 को दिए एक भाषण में भारतीय लेखकों से 'तुलसीदास की रामायण' मांगी थी।<sup>32</sup> प्रेमचन्द ने महात्मा गाँधी की इस इच्छा को पूरा किया और 'रंगभूमि' की रचना की। इस उपन्यास में राम के स्थान पर अँधा सूरदास है, जो राम के समान ही धर्म, सत्य और न्याय की लड़ाई लड़ता है तथा सीता के समान भूमि-हरण होने के कारण रावण जैसी अधर्म, अन्याय, असत्य एवं पशुबल पर आधारित अंग्रेजी सत्ता असहयोगी है, जो गाँधी के शास्त्रों-असहयोग, अविनय अवज्ञा, सत्याग्रह, अहिंसा से औद्योगीकरण तथा अंग्रेजी शासन-तन्त्र से संघर्ष करता है। उपन्यास का अंग्रेज कलेक्टर, ईसाई व्यापारी जॉन सेवक आदि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रतीक हैं, जिनका

लक्ष्य भारत को गुलाम बनाए रखना है। उपन्यास का नायक सूरदास गाँधी के आदर्शों का जीवन्त रूप है। यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी गाँधी के आदर्श के ही अनुरूप होती है। महात्मा गाँधी ने कहा था कि सच्चा असहयोगी वह है, जो हिंसा को रोकने के लिए प्राण दे देता है।<sup>33</sup> सूरदास भी हिंसा को रोकते हुए पुलिस की गोली से मरता है। गाँधी भी इसी प्रकार एक भारतीय की गोली से शहीद हुए।

‘रंगभूमि’ (1925) से ‘कर्म भूमि’ (नवम्बर 1932) तक का समय तीव्र राजनीतिक गतिविधियों का काल है। अतः प्रेमचन्द की कहानियों तथा उपन्यासों में भी इनके गहरे प्रभाव को देखा जा सकता है। कहानियों में ‘हिंसा परमो धर्मः’ (दिसम्बर, 1926), ‘मन्दिर’-2 (1927), ‘शुद्धि’ (मई, 1928), ‘इस्तीफा’ (दिसम्बर, 1928), ‘जुलूस’ (मार्च, 1930), ‘समर-यात्रा’ (अप्रैल, 1930), ‘शराब की दुकान’ (मई, 1930), ‘सुहाग की साड़ी’ (मई, 1930), ‘मैकू’ (जून, 1930), ‘आहुति’ (नवम्बर, 1930), ‘जेल’ (फरवरी, 1931), ‘अनुभव’ (अक्टूबर, 1932) आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इनमें महात्मा गाँधी के स्वराज्य आन्दोलन, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, असहयोग, सविनय अवज्ञा, हृदय-परिवर्तन, हिन्दू-मुस्लिम एकता और अछूतोद्धार को जीवन्तता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों की यह विशेषता है कि गाँव के अशिक्षित स्त्री-पुरुष तथा निर्धन पात्र देश की आजादी के लिए अहिंसक संघर्ष करते हैं और महात्मा गाँधी के राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता-संग्राम को भिन्न-भिन्न दृष्टि से वाणी प्रदान करते हैं।

उपन्यासों में भी देश की राजनीतिक परिस्थितियों का बड़ा ही वास्तविक चित्रण हुआ है। ‘कायाकल्प’ उपन्यास, जो व्यक्ति के मन और शरीर के कायाकल्प की कथा है, मैं भी सामन्त वर्ग की विलासिता, प्रजा विरोधी नीति तथा चक्रधर द्वारा जेल के कैदियों एवं विद्रोही मजदूरों को हिंसक होने से रोकने तथा हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों और उनकी एकता पर युग की राजनीति का स्पष्ट प्रभाव है। प्रेमचन्द ‘हिन्दू-मुस्लिम एकता’ और ‘स्वराज्य’ को एक ही वस्तु मानते थे।<sup>34</sup> उनका कथन है कि साम्प्रदायिकता एक पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं।<sup>35</sup> ‘कायाकल्प’ में उन्होंने साम्प्रदायिक दंगों तथा उनके कारणों का बहुत सच्चा वर्णन किया है और गाँधी के तरीके से समझौता कराते हैं। इसके बाद ‘गबन’ उपन्यास में ‘प्रेमचन्द ने पश्चिमी सभ्यता तथा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक को राष्ट्रीय एवं सामाजिक सन्दर्भों में देखा है, क्योंकि वे ‘अंग्रेजी दाँ’ तथा ‘गुलामी मानसिकता’ के युवकों की देशद्रोहिता से दुखी होकर लिखते हैं कि गैर अंग्रेजी दाँ, कारोबारी और पेशावर तबकों ही ने राष्ट्रीय संग्राम में जान डाली है, अन्यथा अगर तालीम याफ्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहेगा तो शायद कयामत तक उसे आजादी नसीब न होगी।<sup>36</sup> ‘गबन’ में प्रेमचन्द ऐसे ही अंग्रेजी गुलाबी के युवक की मानसिकता और चारित्रिक दुर्बलता से युगीन राजनीतिक गतिविधियों को चित्रित करते हैं। उपन्यास में देशभक्त, क्रान्तिकारियों को झूठे मुकदमे में फँसाकर फाँसी पर लटका देने का प्रयत्न है, शासन-व्यवस्था में पुलिस और न्याय के क्षेत्र में

अंग्रेज साम्राज्यवादियों के हितों की रक्षा की घटनाएँ हैं और देवीदीन द्वारा 'स्वदेशी और देश का उद्धार' का नारा देनेवाले कांग्रेसी नेताओं के अंग्रेजी जीवन-पद्धति अपनाने तथा जनता विरोधी कार्यों में लिप्त रहने का भंडाफोड़ है। 'गबन' का एक पात्र देवीदान अपने दो जवान बेटों को 'सुदेशी' की भेंट कर चुका है और रमानाथ से कांग्रेसी नेताओं की कलई खोलते हुए कहता है, "बड़े-बड़े देश-भक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देखी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिए, घर का और सब सामान विलायती है। उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेंगे। अरे, तुम क्या देस का उद्धार करेंगे। पहले अपना उद्धार तो कर लो। अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना भरते हो, जब तुम्हारा राज हो जाएगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।"<sup>37</sup> 'गबन' उपन्यास की यह राजनीतिक चेतना उसे युग की राजनीतिक परिस्थितियों का प्रामाणिक एवं जीवन्त इतिहास बना देता है।

'कर्मभूमि' उपन्यास तो पूर्णतः राजनीतिक उपन्यास है और प्रेमचन्द ने इसे अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों, युग के राजनेताओं तथा राजनीतिक घटनाओं एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, कलकत्ता में गाँधी द्वारा प्रस्तुत दस सूत्री कार्यक्रमों के आधार पर उपन्यास की रचना की है। 'कर्मभूमि' का राजनीतिक-सामाजिक पराधीनता के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम, आन्दोलन और हड़ताल, विजय और समझौता तत्कालीन गाँधी के स्वाधीनता आन्दोलन की ही प्रतिच्छाया है। इसमें प्रमुख रूप से हरिजन, किसान, मजदूर आदि का संघर्ष है, शहर और गाँव दोनों स्थानों पर संघर्ष है, कहीं यह अछूतोद्धार का प्रश्न है और कहीं लगानबन्दी का, लेकिन दोनों स्थानों पर कुछ शिक्षित 'गरीबों के वकील' बन राजनीतिक एवं सामाजिक पराधीनता के विरुद्ध समाज को उद्वेलित करते हैं, जेल जाते हैं और अन्त में सरकार से समझौता होता है। इस प्रकार 'कर्मभूमि' अपनी प्रबल राजनीतिक चेतना से समाज में जागृति उत्पन्न करके महात्मा गाँधी के राजनीतिक दर्शन को राष्ट्रीय धरातल पर स्थापित करता है और भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को व्यापकता से चित्रित करने वाला महत्वपूर्ण उपन्यास बन जाता है।

'कर्मभूमि' से 'मंगलसूत्र' की यात्रा में 'गोदान' एक महान कृति है, जो कृषि संस्कृति के अस्तित्व के महान प्रश्न को उपस्थित करती है। 'गोदान' में किसान होरी की त्रासदी है, कृषि-संस्कृति के नष्ट होने की त्रासदी है। अतः उसमें अपने समय की राजनीति नहीं है, उसमें है होरी किसान की मरजाद के साथ रहने की आकांक्षा। होरी कहता है, "हम राज नहीं चाहते, भोग विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोंटा पहनना और मोटा-झोंटा खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।"<sup>38</sup> 'मंगलसूत्र' उपन्यास जीवनीपरक अधूरा उपन्यास है, जिसमें धन और नैतिक मूल्यों का प्रश्न प्रधान है। इस काल की कहानियों में भी कोई ऐसी कहानी नहीं है, जो शुद्ध रूप से राजनीतिक और युग की राजनीतिक गतिविधियों को प्रस्तुत करती हो।

अन्त में, प्रेमचन्द के इस राजनीति-दर्शन के विवेचन से कुछ निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। आज की राजनीतिक परिस्थितियों एवं दलगत तथा स्वार्थगत राजनीति के दौर में प्रेमचन्द कालीन जन जागृतिपूर्ण एवं देश की स्वतन्त्रता के लिए इतिबद्ध राजनीति-दर्शन का अध्ययन रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। साहित्यकार साहित्य और मानव जीवन के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होता है, किसी राजनीतिक दल या दर्शन से नहीं, किन्तु भारत और अन्य देशों के मार्क्सवादियों ने साहित्य को अपने राजनीति-दर्शन के प्रचार का हथियार बनाया, लेकिन प्रेमचन्द की दृष्टि इससे भिन्न थी। वे स्वयं राजनीतिक पार्टी के सदस्य रहे और साहित्य को राजनीति से ऊँचा स्थान देते हुए उसे 'देशभक्ति और राजनीति' के आगे चलनेवाली मशाल कहा। उनका युग राजनीति का युग था, और स्वराज्य उसका लक्ष्य, लेकिन इस राजनीति-दर्शन में भारतीय समाज को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की दासता और पराधीनता से मुक्ति का शंखनाद था। प्रेमचन्द इस लक्ष्य का आद्योपांत ध्यान रखते हैं और स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, गाँधी और थोड़ी बहुत रूसी क्रान्ति से भी शक्ति प्राप्त करते हैं। उनके राजनीति-दर्शन पर महात्मा गाँधी का सबसे अधिक प्रभाव है, जो सन् 1916 से अन्तिम समय तक चलता है, लेकिन शोषण से मुक्ति और समाज में समानता के लिए यथावसर रूसी क्रान्ति का भी उल्लेख करते हैं। प्रेमचन्द अपने राजनीति-दर्शन में गरीब किसानों तथा मजदूरों का स्वराज्य देखते हैं, हिन्दू-मुस्लिमों में साम्प्रदायिक एकता चाहते हैं, हरिजनों को शोषण मुक्त कर एक ऐसा राष्ट्र बनाना चाहते हैं, जिसमें सब धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा के विभेद के बावजूद सब बराबर हों। उनके मन में स्वतन्त्र भारत की एक कल्पना है, जो गाँधी के 'राम-राज्य' से मिलती है। वे गाँधी की अहिंसा, सत्य, न्याय, सत्याग्रह और स्वाधीनता संग्राम के साक्षी और अनुयायी हैं, और अपने साहित्य को युग के इस महान स्वाधीनता संग्राम का प्रतिबिम्ब बना देते हैं। वे अपने युग की राजनीति को साहित्य में अवतरित करते हैं, किन्तु उसका मार्क्सवादियों के समान दुरुपयोग नहीं करते, किसी पार्टी का प्रचार नहीं करते, बल्कि जीवन के अनुभवों से जोड़ते हैं, उसे जीवन्त और प्रामाणिक बनाते हैं। उनका राजनीति-दर्शन गुलाम भारत की मुक्ति का आधार है, और स्वतन्त्र भारत में भी वह मनुष्य की मुक्ति और निर्माणा का मंगलकारी दर्शन बन सकता है।

#### संदर्भ

1. प्रेमचन्द की प्रासंगिकता, पृ. 71
2. साहित्य और यथार्थ, पृ. 73
3. आलोचना, अप्रैल-जून, 1974 में संकलित
4. लेनिन और भारतीय साहित्य, पृ. 36

5. आलोचना, अप्रैल-जून, 1974, पृ. 4-5
6. चिट्ठी-पत्री-2, पृ. 77
7. गुप्त-धन-1, पृ. 9
8. प्रेमचन्द-घर में, प्रथम संस्करण, पृ. 69-70
9. साहित्य का उद्देश्य, पृ. 15
10. प्रेमचन्द और गाँधीवाद, रामदीन गुप्त, प्रथम संस्करण, पृ. 111 पर 'कर्मवीर गाँधी, पुस्तक' की भूमिका से उद्धृत अंश से
11. विविध-प्रसंग-2, पृ. 19-22
12. विविध-प्रसंग-1 258-69
13. विविध-प्रसंग-1, पृ. 267
14. विविध-प्रसंग-2, पृ. 270-83 पर संकलित, यह लेख वर्ष 1921 में छपा था
15. प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य, खंड-दो, पृ. 517-18 पर संकलित
16. वही, पृ. 518-19
17. वही, पृ. 525
18. विविध-प्रसंग-2, पृ. 53-57
19. विविध-प्रसंग-2, पृ. 53-54
20. वही, पृ. 75, 'हंस', जून, 1931 में प्रकाशित टिप्पणी से
21. वही, पृ. 87-91, 'हंस', अप्रैल, 1932 में प्रकाशित टिप्पणी से
22. वही, पृ. 198-99, 'जागरण', 21 अगस्त, 1933 में प्रकाशित टिप्पणी से
23. विविध-प्रसंग-2, पृ. 217, 'जागरण', 9 अक्टूबर, 1933 को प्रकाशित टिप्पणी से
24. प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य, खंड-1, पृ. 314
25. विविध-प्रसंग-2, पृ. 326, 'जागरण', 18 सितम्बर, 1933 को प्रकाशित टिप्पणी से
26. वही, पृ.
27. विविध-प्रसंग-2, पृ. 487
28. विविध-प्रसंग-3, पृ. 217
29. चिट्ठी-पत्री-2, पृ. 237
30. सरस्वती, जून, 1926, पृ. 752
31. प्रेमचन्द-साहित्यिक विवेचन, पृ. 17, 78
32. सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, भाग-17, पृ. 334
33. वही, भाग-19, पृ. 540
34. विविध-प्रसंग-2, पृ. 351
35. चिट्ठी-पत्री-3, पृ. 58
36. चिट्ठी-पत्री-1, पृ. 178-79
37. गबन, पृ. 171-72
38. गोदान, पृ. 246

## बौद्ध दर्शन - प्रस्थानों के सैद्धान्तिक मतभेद और एकवाक्यता के मूलभूत सूत्र

अम्बिकादत्त शर्मा\*

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शनों का समूह है। इनका मूल धर्मग्रन्थों की सुव्यवस्थित संहिता में न होकर मौखिक रूप से प्रसारित उपदेशों की आकार विहीन परम्परा है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भिक्षु संघों द्वारा विभिन्न संगीतियों का आयोजन कर बुद्ध वचनों को सुत्त, विनय और अभिधम्म पिटक के रूप में संहिताबद्ध किया गया। यही त्रिपिटक बौद्ध दर्शनों के संहिताबद्ध आधार हैं।<sup>1</sup> बुद्ध वचनों को तीन ही पिटकों में विभाजित करने का आधार बुद्ध की तीन शिक्षायें (शील, समाधि और प्रज्ञा) और तीन प्रकार की देशनाएँ (आज्ञा, व्यवहार और परमार्थ) हैं।<sup>2</sup> अन्य धार्मिक परम्पराओं की तरह पिटकों में संग्रहित ज्ञान-राशि को अपौरुषेय अथवा दैवीय रूप से प्रकाशित नहीं माना जाता है। यह चेतावनी स्वयं बुद्ध द्वारा ही दी गई है कि उनके उपदेश पौरुषेय प्रमाण की सीमा में हैं और उन्हें श्रद्धाभाव के चलते नहीं, बल्कि परीक्षा की कसौटियों पर कसकर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।<sup>3</sup>

विवेक का स्वातन्त्र्य चूँकि बौद्धानुयायियों को विरासत में मिली है, इसलिए कालान्तर में बौद्ध दर्शन का विकास बुद्ध वचनों के वास्तविक तात्पर्य को उद्घाटित करने के प्रयास में हुआ है। मोटे तौर पर बुद्ध वचनों के तात्पर्य का निर्धारण उन्हें नीतार्थ और नेयार्थ मानकर किया जाता है। नीतार्थ वचन वे हैं जिनका अर्थ सीधे-सीधे शब्दशः ग्रहण किया जाता है जबकि नेयार्थ वचन अभिप्रायिक होते हैं।<sup>4</sup> व्याख्या के इस मूलभूत सूत्र के पीछे यह धारणा प्रचलित रही कि बुद्ध के उपदेश एकस्तरीय नहीं बल्कि पात्रों की बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखकर दिए गए हैं।<sup>5</sup> इसी आधार पर यह भी माना जाता है कि बुद्ध ने कम-से-कम तीन धर्मचक्र प्रवर्तनों के द्वारा अपने उपदेशों के आशय को अधिकारीभेद के साथ प्रकट किया है। इसमें प्रथम धर्मचक्र

\* दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र.

प्रवर्तन सारनाथ में, द्वितीय गृध्रकूट पर्वत पर और तृतीय वैशाली में किया गया था। तीनों धर्मचक्रों की देशना तीन अलग-अलग प्रकार के पात्रों को सम्बोधित हैं।

इन्हीं तीनों धर्मचक्र प्रवर्तनों से सम्बन्धित उपदेशों को नीतार्थ अथवा नेयार्थ मानकर बौद्ध विचारधारा का धार्मिक विभाजन हीनयान और महायान में हुआ। हीनयानी बौद्ध प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन को ही बुद्ध की नीतार्थ देशना मानते हैं और व्यक्तिगत मुक्ति (अर्हत-पद) को अपना लक्ष्य मानते हैं। महायानी बौद्ध द्वितीय एवं तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन को बुद्ध की नीतार्थ देशना समझते हैं और प्राणिमात्र का कल्याण तथा सर्वमुक्ति को अपना लक्ष्य घोषित करते हैं।<sup>15</sup> महायानियों की दृष्टि में बुद्धत्व का बीज सभी प्राणियों में है और बुद्ध की देशनाएँ उसी को व्याकृत करने के उपाय-कौशल मात्र हैं। इसीलिए बुद्ध अन्तिम रूप से मुक्त होने की पात्रता रखते हुए भी बोधिसत्त्व के रूप में बारम्बार संसार में जन्म लेकर महाकरुणा के सम्पादन का व्रत लेते हैं। हीनयान और महायान बौद्ध धर्म से सम्बन्धित दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रस्थान भेद भी उनके द्वारा त्रिविध धर्मचक्र प्रवर्तनों से सम्बन्धित बुद्ध वचनों को नीतार्थ और नेयार्थ मानकर अपने-अपने पक्ष में व्याख्यायित करना है। बुद्ध वचनों की नीतार्थ और नेयार्थपरक व्याख्या-पद्धति आपसी मतभेदों के लिए जितना अवकाश निर्मित करती है, उतना ही गहरे स्तर पर एकवाक्यता बनाए रखने में भी सहायक होती है। इसीलिए बौद्ध दर्शन के विकास में व्याख्याओं की परस्पर विरोधी बहुलता के बावजूद एक मूलगामी एकता बनी रहती है।

## I

हीनयानी बौद्ध परम्परा का दार्शनिक विकास अनगिनत छोटी-बड़ी असहमतियों के बीच आकार ग्रहण किया है। प्रारम्भ में चार मूल संघों की स्थापना हुई। इन्हें सर्वास्तिवाद, महासाधिक, सम्मतीय और स्थविरवादी के नाम से जाना जाता है। इनके संस्थापक क्रमशः राहुलभद्र, महाकश्यप, महाकात्यायन और भदन्त उपाधि थे। इन्हीं मूल संघों से कालान्तर में अठारह निकायों का विकास हुआ। निकायों के इतिहास और सिद्धान्तों की थोड़ी-बहुत जानकारी कथावत्थु नामक ग्रन्थ में प्राप्त होती है। इनके आपसी मतभेद उतने दार्शनिक नहीं थे, जितने की आचार के नियमों और साधना को लेकर थे। इस पूरे कालखण्ड का दार्शनिक विकास अन्ततः वैभाषिक और सौत्रान्तिकों के चिन्तन में दो स्वतन्त्र दर्शन-प्रस्थान के रूप में आकार ग्रहण किया है।

वैभाषिक अभिधर्मपिटक को सर्वाधिक प्रामाणिक बुद्धवचन माननेवाला सम्प्रदाय है, जो प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन को ही बुद्ध की नीतार्थ देशना मानता है। इनका अभिधर्म सात ग्रन्थों-ज्ञानप्रस्थान (कात्यायनीपुत्र), प्रकरणपाद (वसुमित्र), विज्ञानकाय (देवश्रमण), धर्मस्कन्ध (शारीपुत्र), प्रज्ञप्तिशास्त्र (मौद्गल्यायन), धातुकथा (पूर्ण), और संगतिपर्याय (महाकौस्थील्य) का संकुल माना जाता है। इन सभी को लेकर महाविभाषा और

विभाषा नामक टीका ग्रन्थ लिखे गए थे। वस्तुतः विभाषा को ही प्रमाण मानने के चलते इनका नाम वैभाषिक पड़ा (विभाषाया दिव्यन्ति, चरन्ति वा, विभाषां विदन्ति, वैभाषिकः)।<sup>6</sup> वैभाषिकों की दार्शनिक दृष्टि यथार्थवादी और बहुतत्त्ववादी है जो मौलिक रूप से 'धर्म प्रविचय' पर आधारित है। धर्म प्रविचय से उनका तात्पर्य अस्तित्व के उन सरल सार तत्त्वों से है, जो हमारे आन्तरिक और बाह्य-जगत् सम्बन्धी अवबोध के अनिवार्य घटक होते हैं। इसीलिए इन्हें अवबोधोपयोगी धर्म कहा जाता है। प्रविचय का अर्थ है चुनना अथवा अलग-अलग करना। हम अपने साधारण अनुभव में जिस आन्तर एवं बाह्य दुनिया को जानते-पहचानते हैं, वह इन्हीं धर्मों का संघात है। इस संघात को उसके सरल अवयवों में विघटित करना ही धर्म प्रविचय है। वैभाषिकों के अनुसार धर्मों की ही वास्तविक सत्ता है और धर्मसंघात का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। जीवन और जगत् के प्रति संघात दृष्टि ही सभी अनर्थों का मूल है और उसे पृथक्-पृथक् धर्मों के रूप में देखना विशुद्ध दृष्टि है। इस दृष्टि विशुद्धि से विमल प्रज्ञा अपने समस्त अनुचरों के साथ उत्पन्न होती है (प्रज्ञामलासानुचराभिधर्मः) जो निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करती है।<sup>7</sup>

सर्वप्रथम धर्मों का प्रविचय सास्रव और अनास्रव रूप में किया गया। सास्रव वैसे धर्मों को कहा गया, जो दुःख के पोषक हैं और निर्वाण में सहायक धर्मों को अनास्रव कहा गया। सांक्लेषिक और व्यवदानिक इनकी अपर संज्ञाएँ हैं। इन धर्मों को संस्कृत और असंस्कृत कोटि में भी विभाजित किया जाता है। हेतु और प्रत्ययों के सहयोग से उत्पन्न होना और बिना सहयोग के ही उत्पन्न होना क्रमशः संस्कृत एवं असंस्कृत धर्म के लक्षण हैं। संस्कृत धर्म सतत परिवर्तनशील अवस्था में रहते हैं, अतः क्षणिक माने गए हैं। यद्यपि इन क्षणिक धर्मों के मूल में कुछ-न-कुछ ऐसा रहता है, जो तीनों कालों में अपरिवर्तित ही बना रहता है। असंस्कृत धर्म नित्य होते हैं। इनकी गणना प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध और आकाश के रूप में की गई है। संस्कृत धर्मों की गणना स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में की गई है। स्कन्ध के अन्तर्गत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को सम्मिलित किया गया है। यही स्कन्ध संघात रूप में एक मृषा आत्मभाव को उत्पन्न करते हैं। आयतन के अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं एक मन तथा इन छहों के रूप, रस, गन्धादि विषयों को परिगणित किया गया है। इस तरह द्वादश आयतनों के साथ छह इन्द्रिय विज्ञानों को सम्मिलित कर अठारह धातुओं की व्यवस्था की गई है। हमारी चेतना और विषय जगत् के बीच सम्पर्क के फलस्वरूप जो संसार हमारे अवबोध में आकार लेता है उसके सारभूत तत्त्व यही स्कन्ध आयतन और धातुएँ हैं। इन सभी का वर्गीकरण चित्त, चैतसिक, चित्तविप्रयुक्त और निर्वाण में भी किया गया है।

इस प्रकार वैभाषिक धर्मप्रविचय में ही बुद्धवचनों का वास्तविक तात्पर्य ढूँढ़ते हैं और अनगिनत धर्मों की संहति के रूप में एक ऐसे संसार का चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिसमें सब कुछ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक्, किसी स्थायी आधार के बिना ही सतत



परिवर्तनशील हैं। न कोई पदार्थ है और न ही परिवर्तनशील अनुभवों के आधार में कोई आत्मा। ईश्वर भी नहीं जो इन बिखरे हुए धर्मों को व्यवस्थित करता हो। फिर भी यह कोई अस्त-व्यस्त स्थिति नहीं है, बल्कि प्रतीत्यसमुत्पाद रूपी कारणता के सार्वभौम नियम से स्वतः ही व्यवस्थित है। वैभाषिकों के मत में निर्वाण का मतलब दीपक की तरह बुझ जाना है। बुझा हुआ दीपक जैसे अभाव रूप होता है, वैसे ही निर्वाण दुःखों का अभाव ही है।

सौत्रान्तिक भी प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन को ही बुद्ध की नीतार्थ देशना मानते हैं, लेकिन वैभाषिकों के अभिधर्मपिटक से इनका इतना विरोध है कि उसे बुद्धवचन ही नहीं मानते। उनका मानना है कि सुत्तपिटक में 'अर्थ-विनिश्चय' इत्यादि जो सूत्र हैं, वही अभिधर्मपिटक स्थानीय हैं। इस तरह सौत्रान्तिक सुत्तपिटक को ही प्रमाण मानने वाला दार्शनिक प्रस्थान है। अभिधर्मकोश भाष्य की स्थिरमति कृत स्फुटार्थ व्याख्या में सौत्रान्तिकों को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जो सूत्र को, न कि शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, वे सौत्रान्तिक हैं (ये सूत्र प्रामाणिकाः, न तु शास्त्र प्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः)।<sup>8</sup> इनका प्राचीन नाम सुत्तधर और दार्ष्टान्तिक भी मिलता है। प्राचीन सौत्रान्तिकों में आचार्य भदन्त, भदन्त दार्ष्टान्तिक, स्थविर धर्मोत्तर और श्रीलात का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। दार्ष्टान्तमूलागम, त्रिपिटकधरभेद सम्परिग्रह इनके प्राचीन ग्रन्थ रहे, जो अपने मूलरूप में अब अनुपलब्ध हैं। अभिधर्मकोश में भी इनके विचार मिलते हैं। अभिधर्मकोशकार वसुबन्धु पहले वैभाषिक थे और बाद में सौत्रान्तिक मत के पक्षधर हो गए। इसीलिए उन्होंने अपनी ही कृति अभिधर्मकोश पर स्वयं ही सौत्रान्तिक दृष्टि से भाष्य लिखा है। सौत्रान्तिक भी धर्मप्रविचय में ही बुद्ध वचनों का निहितार्थ पाते हैं, लेकिन इनका धर्मप्रविचय सुत्तपिटक के अर्थविनिश्चय सूत्रों पर आधारित होने से किञ्चित् भिन्न और सूक्ष्म है।<sup>9</sup> ये पंचस्कन्धों में ही सभी धर्मों का समावेश कर देते हैं। रूप के आठ, वेदना के तीन, संज्ञा के छह, विज्ञान के छह और संस्कार के बीस प्रकारों को मिलाकर इन्होंने कुल 43 धर्मों को स्वीकार किया है। वैभाषिक जबकि 72 संस्कृत एवं 3 असंस्कृत धर्मों को स्वीकार करते थे। सौत्रान्तिक किसी भी असंस्कृत धर्म को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि असंस्कृत धर्म नित्य माने गए हैं और बुद्ध देशना की अनुमत सीमा में नित्यता के लिए कोई स्थान नहीं। ये वैभाषिकों पर शाक्यपुत्रीय नहीं होने का आरोप लगाते हैं, क्योंकि वैभाषिकों ने संस्कृत धर्मों में भी कुछ ऐसा स्वीकार किया है, जो तीनों कालों में एक-सा बना रहता है। यह सौत्रान्तिकों की दृष्टि में प्रच्छन्न शाश्वतवाद है। धर्मों के स्वरूप को लेकर इनका मानना है कि बुद्ध ने सभी धर्मों को उदय-व्यय-धर्मों कहा है। उदय और व्यय के बीच किसी कालिक अन्तराल को नहीं मानना ही धर्मों की अनित्यता और अनात्मता का वास्तविक अर्थ है। आन्तर एवं बाह्य धर्मों की आत्यन्तिक क्षणिकता के कारण सौत्रान्तिकों को यह मानना पड़ता है कि हमारे ज्ञान के विषय प्रत्यक्ष योग्य नहीं, बल्कि अनुमेय हैं। बाह्यार्थ अपनी क्षणिक उपस्थिति से चेतना में अपना आकार उत्पन्न कर

विनष्ट हो जाते हैं, अतः साकार हुई चेतना द्वारा बाह्यार्थ का अनुमान होता है। अनुमान एक ऐसा ज्ञान है, जो किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता बल्कि मन द्वारा संश्लेषित रूप से रची गई वस्तु का ज्ञान ही अनुमान से होता है। प्राचीन सौत्रान्तिकों की इसी अन्तर्दृष्टि को आधार बनाकर परवर्ती काल में आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति इत्यादि के हाथों बौद्ध तर्कशास्त्र एवं प्रमाण शास्त्र का विकास हुआ है। वस्तुतः तर्कपुंगव दिङ्नाग से प्रारम्भ होनेवाली बौद्ध चिन्तन की एक सशक्त परम्परा भी सौत्रान्तिकों का ही अवान्तर विस्तार है। यद्यपि इस विस्तार में सौत्रान्तिक, योगाचार और यहाँ तक कि माध्यमिकों की दृष्टि भी संगृहीत हुई है।

## II

महायान बौद्ध परम्परा का आविर्भाव और उसका दार्शनिक विकास भी कुछ मौलिक परिवर्तनों के साथ हुआ है। मानव बुद्ध की संकल्पना को तात्त्विक और दिव्य बुद्ध में रूपान्तरित कर दिया गया। व्यक्तिगत मुक्ति के बदले सार्वभौमिक मुक्ति के सूत्र खोजे गए। वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों की यथार्थवादी एवं बहुतत्त्ववादी दृष्टि के स्थान पर अद्वयवादी तत्त्वदृष्टि में बुद्ध के उपदेशों की चरम परिणति देखी गई। परन्तु इन मौलिक परिवर्तनों का उद्देश्य पूर्ववर्ती बौद्ध चिन्तन का नकार नहीं, बल्कि उसके आधारों को और अधिक गहरा एवं व्यापक बनाना था। इस महायान बौद्ध परम्परा के आविर्भाव के आरम्भिक सोपान बहुत स्पष्ट नहीं हैं। सम्भव है कि इसका बीजारोपण महासांघिक निकाय से हुआ हो। मोग्गलिपुत्र प्रणीत कथावस्तु में अठारह निकायों की समीक्षा के अतिरिक्त जिन अन्य निकायों का भी खण्डन किया गया है, वे हैं—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैली, राजगिरिक, सिद्धार्थक और वैपुल्य। इनमें वैपुल्य निकाय को ही प्राचीन महायान कहा जा सकता है। वैपुल्यवादियों ने वैपुल्यपिटक नाम से बुद्ध वचनों का एक नवीन संग्रह तैयार किया था। महायानी बौद्ध पालित्रिपिटक के स्थान पर वैपुल्यसूत्रों को ही नीतार्थ बुद्ध वचन मानते हैं। हीनयानी इन सूत्रों के बुद्धवचन होने का घोर विरोध करते हैं। वैपुल्यसूत्रों में सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतारसूत्र, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागत गुह्यक, समाधिराज, दशभूमिश्वर एवं अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों की गणना होती है। महायान बौद्ध दर्शन का संहिताबद्ध धार्मिक आधार यही वैपुल्यसूत्र हैं। इन सूत्रों में संकलित बुद्ध देशना का सम्बन्ध द्वितीय एवं तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन से माना जाता है। माध्यमिक और योगाचार दो ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो इस पूरे विकास क्रम को चूड़ान्त दार्शनिक प्रतिनिधित्व प्रदान करते हैं।

वैपुल्यसूत्रों में माध्यमिक दर्शन के बीजभूत विचार विशेष रूप से सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमितासूत्रों एवं समाधिराजसूत्र में बिखरे हुए मिलते हैं। इसे एक स्वतन्त्र दर्शन-प्रस्थान के रूप में विकसित करने का श्रेय नागार्जुन को जाता है। मूल माध्यमिक कारिका, विग्रहव्यावर्तनी, युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति आदि ग्रन्थों में नागार्जुन ने

माध्यमिक दर्शन का सांगोपांग विवेचन किया है। आयदेव की चतुःशतक और चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक कारिका पर प्रसन्नपदा टीका में माध्यमिक दर्शन विस्तारित हुआ है। इसका नाम माध्यमिक इसलिए पड़ा कि यह दो अन्तों का निषेध कर मध्य में स्थित होनेवाला दर्शन है।<sup>10</sup> बुद्ध की समस्त शिक्षाओं का समाहार चूँकि अन्तद्वय की वर्जना में होता है, इसीलिए उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को धम्म कहा है (यः पश्यति प्रतीत्यसमुत्पादं, स धम्मं पश्यति)।<sup>11</sup> मोटे तौर पर प्रतीत्यसमुत्पाद को संसार-चक्र का निर्धारक कार्य-कारण सिद्धान्त माना जाता है। परन्तु गहरे अर्थों में यह दो वस्तुओं के बीच कार्यरत कोई नियम नहीं, बल्कि दोनों की अस्तित्वात्मक सापेक्षता है। यदि कार्य और कारण को अभिन्न माना जाए तो यह एक प्रकार का शाश्वतवाद होगा और यदि उन्हें भिन्न माना जाए तो एक प्रकार का उच्छेदवाद होगा। इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद इन दोनों अतियों के निषेध से फलित होनेवाला मध्यम मार्ग है।<sup>12</sup> सम्पूर्ण संसार जिसे हम वास्तविक समझते हैं, वह वास्तव में सापेक्षता का साम्राज्य है। चूँकि उसका होना ही सापेक्षिक है, इसलिए वह स्वभावशून्य है। यह स्वभावशून्यता यद्यपि अस्तित्वमात्र की संरचना में ही अन्तर्निहित है, लेकिन हमारी बुद्धि उसे स्वभाववान समझती है। यही अज्ञान है। इस अज्ञान की छाया में ही मानवीय बुद्धि वस्तु-स्वभाव विषयक अनेक प्रकार की धारणाओं को पालती है, जो वास्तव में दृष्टियों की मोह-माया है। इसलिए नागार्जुन अपनी कृतियों में जीवन और जगत् सम्बन्धी आधारभूत दृष्टियों की परीक्षा करते हुए उनकी बनावट में ही निहित दुर्बलताओं को पकड़कर उनकी स्वभावशून्यता को उजागर करते हैं। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय की एक विलक्षण परीक्षा-पद्धति विकसित की है। यह एक तटस्थ परीक्षा-पद्धति है जिसमें परीक्षक का कोई पक्ष नहीं होता। किसी भी दृष्टि, सिद्धान्त अथवा अवधारणा में निहित आन्तरिक विरोधाभास को मात्र प्रकट कर देना उसका लक्ष्य होता है। इस तरह माध्यमिक दर्शन का पर्यवसान दृष्टिमात्र के निषेध (सर्वदृष्टिप्रहण) में होता है। दृष्टिमात्र का निषेध स्वयं में एक दृष्टि नहीं, बल्कि अद्वय प्रज्ञा है।<sup>13</sup> यह अद्वय प्रज्ञा ही परमार्थ है, जिसे बुद्धि सत्, असत् उभय और अनुभय नामक चतुर्विध कोटियों में बाँध नहीं सकती। नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन दृष्टि-परीक्षा के विरल बौद्धिक उपक्रम के द्वारा वास्तव में इसी चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अद्वय प्रज्ञा को आविर्भूत करने का दर्शन है।

नागार्जुन ने बुद्ध की देशनाओं का अन्तिम तात्पर्य 'सर्वदृष्टिशून्यता' में दिखाने का जो विरल बौद्धिक उपक्रम किया है, वह आत्मचेतन हुई मानव बुद्धि द्वारा स्वयं की समीक्षा का एक विरल पराक्रम है। परन्तु उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं हुआ, जिसका वह अधिकारी है। नागार्जुन के शून्यवाद को उसकी विशिष्टताओं के चलते कम और आलोचनाओं के चलते अधिक प्रसिद्धि मिली है। शंकराचार्य इसे सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध कहकर आलोचना के योग्य भी नहीं पाते।<sup>14</sup> अन्य आलोचकों ने उच्छेदवाद कहकर इसकी भर्त्सना की है। वास्तविकता जबकि यह है कि यदि शून्यवाद को न माना जाए तो संसार की स्थिति या तो शाश्वत अस्ति या फिर सर्वथा उच्छेद की होगी। ऐसी

स्थिति में किसी काम के लिए न तो कर्ता की जरूरत होगी और न कर्ता को कुछ करने की जरूरत होगी (भवेत् किंचित् अनारब्धा क्रिया भवेत् । कारकः स्यादकुर्वाणः शून्यता प्रतिबाधतः ।।)<sup>15</sup> जबकि मानवीय प्रयासों की सार्थकता इसी में है कि वह अप्राप्त की प्राप्ति की प्रत्याशा में प्रयत्नशील बना रहे। यह तभी सम्भव है, जब संसार को शून्य माना जाए। अतः माध्यमिक शून्यवाद अपनी सम्यक् अर्थवत्ता में मनुष्य की सृजनात्मकता का दर्शन है।

योगाचार विज्ञानवाद महायान परम्परा का दूसरा दार्शनिक प्रस्थान है। महायान सूत्रों में विशेषकर दशभूमिकसूत्र एवं लंकावतारसूत्र तथा प्रज्ञापारमिता सूत्रों में ऐसे विचार मिलते हैं, जो महायान सूत्रों की माध्यमिक व्याख्या के विरोधी हैं। उदाहरण के लिए दशभूमिकसूत्र का यह बुद्धवचन 'चित्तमात्रं, भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्' तीनों लोकों के चित्तमात्र होने की घोषणा करता है। परन्तु महायान सूत्रों की योगाचारी व्याख्या का श्रेय मैत्रेयनाथ और असंग को जाता है। मैत्रेयनाथ की रचनाओं में 'महायानसूत्रालंकार' और असंग की कृतियों में 'योगाचार भूमिशास्त्र' इस धारा के प्रस्थान ग्रन्थों में प्रमुख माने जाते हैं। वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' योगाचार का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ माना जाता है। बोधि प्राप्ति के लिए योग साधना पर विशेष बल देने के कारण इस दर्शन सम्प्रदाय को योगाचार कहा जाता है। विज्ञानवाद पद से इसकी दार्शनिक दृष्टि प्रतिध्वनित होती है।

योगाचार दर्शन के अनुसार चेतना ही एकमात्र परमार्थ सत् है। तथाकथित व्यवहार जगत् जो चेतना से बाहर प्रतीत होता है, वह चेतना की ही विज्ञप्ति मात्र है। चेतना उस प्रकाश के समान नहीं, जो केवल वस्तु-जगत् को प्रकाशित करती है और उसे किसी प्रकार प्रभावित न करती हो। वास्तविकता यह है कि अनन्त विषयोंवाले जगत् को चेतना अपने अन्दर ही रचती है और उसे बाहर प्रक्षिप्त भी करती है।<sup>16</sup> इस प्रक्षेपण के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुएँ बाहर हैं और उनका अस्तित्व चेतना से स्वतन्त्र है। जबकि नील वस्तु और नील वस्तु की चेतना दोनों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। इससे दोनों की एकता ही सिद्ध होती है। हम चेतना का अतिक्रमण नहीं कर सकते और अतिक्रमण किए बिना चेतना से पृथक् और परे बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना होगा कि चेतना सृजनशील है और स्वप्न-जगत् के समान बाह्य जगत् को भी वह अपने अन्दर ही रचती है। स्वप्न जगत् के निर्माण और प्रक्षेपण में चेतना में निहित वैयक्तिक वासनाएँ कारण होती हैं, लेकिन अनादि वासना के कारण जब चेतना में वस्तु-जगत् के अनन्त आकारों का समुद्भव होता है तो वही आकार इस अनन्त विविधताओंवाले जगत् के रूप में प्रतीयमान होते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की सुसंगत व्याख्या योगाचार दर्शन में 'विज्ञानपरिणामवाद' के रूप में की गई है।<sup>17</sup> अनादिवासना के प्रभाववश चेतना का अनन्त आकारों में विभाजित होना ही उसका वस्तुजगत् के रूप में परिणमन है। यह चेतना का एक तरह से दूषण है, उसका संसार में बँधना है। बुद्ध जब यह

कहते हैं कि 'चित्तमेव संक्लिष्यते', चित्तमेव व्यवदायते' तो इसका तात्पर्य यही है कि चेतना दूषित होकर बन्धनग्रस्त होती है और वही शुद्धिकृत होकर मुक्त होती है। बुद्ध की देशनाएँ हमें इस अवचेतन बन्धन के प्रति आत्मचेतन बनाती हैं और साधना के द्वारा हम मुक्ति के मार्ग पर आरोहण करते हैं। साधना के द्वारा जैसे-जैसे चेतना अनादिवासना के प्रभाव से मुक्त होती है, वैसे-वैसे वह बाह्य जगत् को अपने से बाहर समझने की भ्रान्ति और अपने से बाहर उसे जानने की बाध्यता से मुक्त होती जाती है। इसी को योगाचारी क्लेशावरण और ज्ञेयावरण कहते हैं। अन्त में चेतना अपने शुद्ध अद्वय स्वरूप में निष्पन्न होती है। चेतना की यही अवस्था परमबोधि का स्वरूप है और इसी को प्राप्त होना महायान साधना का योगाचारी आदर्श है।

### III

इस प्रकार बौद्ध दर्शन की विकास यात्रा एकरेखीय नहीं, बल्कि टेढ़े-मेढ़े रास्तों से गुजरते हुए बहुरेखीय रही है। उसके बावजूद उसे बौद्ध दर्शन कहा जाना इसलिए सार्थक है कि सबके सब आखिरकार बुद्ध वचनों के तात्पर्य को ही अपने-अपने तरीके से उद्घाटित करते हैं। यही कारण है कि सैद्धान्तिक व्याख्याओं की विभ्रमकारी बहुलता में भी बौद्ध दर्शनों के सम्प्रदाय केन्द्रित विकास में आधारभूत एकता के सूत्र परिलक्षित होते रहे हैं। तमाम सैद्धान्तिक विचलनों के बावजूद किसी भी बौद्ध सम्प्रदाय ने क्षणिक पर्यायों की सत्ता के अलावा उन पर्यायों के पृष्ठ में किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया, जो उन्हें एक सूत्र में बाँधती हो। पुद्गल कल्पना मात्र है; जो सत् है वह क्षणिक है। इस प्रकार सभी बौद्धों ने नैरात्म्यवाद को एक स्वर से स्वीकार किया और उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई। अतः सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन को नैरात्म्यवादी परम्परा कहा जा सकता है। नैरात्म्यवाद ही बौद्धदर्शन की मुद्रा है, यही उसका व्यावर्तक वैशिष्ट्य है।

बौद्ध दर्शन के विकास में नैरात्म्यवाद की यह आधारभूत एकता कुछ प्रमुख सिद्धान्तों में अनूदित हुई है, और वह समस्त बौद्ध चिन्तन में परिलक्षित होती है। ऐसे तीन विचारों को अलग किया जा सकता है, जो नैरात्म्यवादी बौद्ध दर्शन की कुंजी हैं : शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद्। प्रत्येक बौद्धमत शून्यता सिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त और मध्यमा प्रतिपद् होने का दावा करता है और इन तीनों सिद्धान्तों के द्वारा नैरात्म्यवाद को ही पुष्ट करता है। यहाँ यह देखना उचित होगा कि बौद्ध दर्शन के मुख्य चारों प्रस्थान किस प्रकार इन तीनों सिद्धान्तों के द्वारा नैरात्म्यवाद का अपना-अपना संस्करण बनाते हैं।<sup>18</sup>

हीनयानी अभिधार्मिक बौद्ध दर्शन में शून्यता का अर्थ 'संघात' (पुद्गल नैरात्म्य) है। प्रत्येक वस्तु जो ठोस, द्रव्यात्मक, तथा स्थायी प्रतीत होती है, एक संरचना है। केवल परमार्थ विशेष (स्वलक्षण) ही सत् है। ये स्वलक्षण एक-दूसरे से पृथक् तथा

क्षणिक हैं। वे एक क्षण के लिए प्रकट होकर नष्ट हो जाते हैं। इन क्षणिक धर्मों के प्रवाह की ही वास्तविक सत्ता है तथा सातत्ययुक्त, विस्तारयुक्त 'संघात' की प्रतीति कल्पना-सृष्ट (विकल्प) है। 'अहं' भी विभिन्न स्कन्धों से, जो क्षणों की शृंखलाएँ हैं, निर्मित संरचना का ही नाम है।

'संघात' के इस सिद्धान्त का, जो पुद्गल-नैरात्म्य प्रतिपादित करता है, महायान दर्शन में और विस्तार हुआ तथा उसके अन्तर्गत धर्मनैरात्म्य को भी समाविष्ट किया गया। माध्यमिकों द्वारा न केवल संघात को, बल्कि संघात में भाग लेनेवाले पृथक्-पृथक् स्वलक्षण धर्मों का नैरात्म्य भी स्वीकार किया गया। 'संघात' तथा 'अवयव' परस्पर सापेक्ष हैं। इन विकल्पों का सम्पूर्ण अर्थ इनकी परस्पर आश्रितता में निहित है। सम्बन्ध के सन्दर्भ से पृथक् होने पर वे अर्थहीन हो जाते हैं। इस प्रकार 'संघात' (पुद्गल) तथा 'अवयव' (धर्म) दोनों ही 'शून्य' हो जाते हैं। परमार्थ सत् की कल्पना पुद्गल, धर्म तथा उनके किसी भी मिश्रण के रूप में सम्भव नहीं हो सकती। इन आधारों पर तत्त्वशास्त्रीय दर्शन का निर्माण केवल एक काल्पनिक संरचना ही हो सकता है। यदि कुछ परमार्थ जैसा है भी तो वह परमार्थ सत् विकल्प-रचित आकारों के बन्धन से सर्वथा मुक्त है तथा विचार एवं भाषा की परिधि से सर्वथा परे है (दृष्टिशून्यता)।

योगाचार माध्यमिकों के सार्वभौम शून्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है, किन्तु वह इसे अपने वैचारिक झुकाव के अनुसार विशिष्ट रूप देता है। सभी पदार्थ असत् अथवा काल्पनिक हो सकते हैं, किन्तु यह कल्पना की क्रिया स्वयं असत् नहीं हो सकती। स्वप्न की सभी वस्तुएँ असत् हो सकती हैं, किन्तु स्वयं स्वप्न की अनुभूति जो उन विषयों की रचना एवं प्रक्षेप करती है, एक ऐसा मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति अथवा चेतना आधारभूत है, किन्तु इसका बाह्य रूप में उद्भासमान वस्तु के अनुभव के रूप में आन्तरिक विभेद पारमार्थिक है। वस्तुतः वहाँ देखने के लिए कुछ नहीं है, इसलिए देखना भी देखने के विषय के समान अवास्तविक है। चेतना को द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता तथा ज्ञेय के इस द्वैताभास से मुक्त करना आवश्यक है (ग्राह्य-ग्राहकशून्यता)। इस प्रकार हम शून्यता के विचार को प्रस्थान-भेद से पुद्गलशून्यता, दृष्टिशून्यता और ग्राह्य-ग्राहक शून्यता की भाषाओं में बौद्ध दर्शन के चारों प्रस्थानों के माध्यम से विकसित हुआ देखते हैं।

पुनः प्रतीत्यसमुत्पाद अपने प्रारम्भिक रूप में भव-चक्र का निर्धारक नैतिक नियम था। इसी की परिणति अस्तित्व में होती है, जैसा कि हम अनुभव में पाते हैं। इसमें बारह कड़ियाँ (निदान) हैं। इस कड़ी में अस्तित्व के लिए मूल प्रेरणा अविद्या से आती है तथा इस शृंखला का अन्त जाति-जरामरण के चक्र में होता है, जो हमारे सम्पूर्ण सांसारिक अस्तित्व का सारांश है। यह शृंखला ही दुःख समुदय का मूल कारण है तथा जीवन का सार्वभौम स्वरूप है। इसी को बुद्ध ने द्वितीय आर्य सत्य घोषित किया है।

बौद्ध दर्शन के विकास-क्रम में जब शुद्ध नैतिक रुचि की अपेक्षा तत्त्वशास्त्रीय रुचि प्रबल हो जाती है, तो यह 'नियम' और व्यापक होकर कारणता का सार्वभौम नियम

बन जाता है। नैतिक कारणता अब एक अधिक व्यापक विधान का एक पक्ष मात्र रह जाती है। सत्ता क्षणिक है, प्रत्येक क्षण में एक धर्म का जन्म तथा दूसरे का विनाश होता है। इन भागते क्षणों के बीच कोई सातत्य नहीं है। एक क्षण से दूसरे क्षण में कुछ भी प्रविष्ट नहीं होता। विभिन्न क्षणों में एक-दूसरे से कभी भी स्पर्श नहीं होता। परमार्थ सत् विलक्षण क्षणों का एक ऐसा आरोह है, जिसके प्रत्येक स्वर विभक्त हैं। तथापि यह गति सांयोगिक या नियम रहित नहीं। इसमें एक नियम है, जिसके अनुसार प्रत्येक अनुवर्ती क्षण का स्वरूप उसके पूर्ववर्ती क्षणों के स्वरूप के द्वारा निर्धारित होता है। सार्वभौम कारणता का यह नियम हीनयानी अभिधार्मिक परम्परा में प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में समझा जाता है। 'उस पर निर्भर होकर वह होता है' (अस्मिन् प्रतीत्य इदं भवति)—के रूप में यह नियम प्रतिपादित होता है। इसके अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता (न गतिर्नाशात्); कारण की कार्य में वास्तविक परिणति नहीं होती।

माध्यमिकों ने उपर्युक्त सिद्धान्त की इस अन्तर्निहित दुर्बलता को पकड़ा, तथा इसके असली खोखलेपन को प्रकट किया। यदि कारण और कार्य पूर्णतः विलक्षण और एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तो कारणता कैसे सम्भव हो सकती है? कारण और अकारण के मध्य भेद किस प्रकार किया जा सकेगा? यदि दोनों ही कार्य से समान रूप से असम्बद्ध हैं? कारण को कार्य से सम्बद्ध होना आवश्यक है। कारण और कार्य परस्परापेक्षी हैं, मानो वे एक-दूसरे से निर्मित हों। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ विलक्षण धर्मों का कालिक अनुक्रम नहीं, बल्कि उनकी एक-दूसरे पर नितान्त आश्रितता है। अतः कारण तथा कार्य दोनों को निःस्वभाव अथवा शून्य मानना होगा। कार्य-कारण भाव दो यथार्थों के बीच कार्यरत नियम नहीं है, अपितु वह उन दोनों की अयथार्थता का सूचक है।

योगाचार दर्शन में चेतना ही एकमात्र परमार्थ सत् है और तथाकथित विषयों की सत्ता काल्पनिक है। किन्तु, विषय की सत्ता में मिथ्या विश्वास होने के कारण चेतना आकार ग्रहण कर लेती है, और क्षणों में बिखर जाती है। तथापि चेतना के इन क्षणों का अनुक्रम नियम रहित नहीं होता। अपनी पसन्द की वस्तु को देखना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। चेतना के प्रत्येक क्षण का स्वरूप विगत क्षणों के स्वरूप से निर्धारित होता है, और यह शृंखला उसके जन्म के समय से या उससे पहले से भी, प्रारम्भ होती है। अतः योगाचार दर्शन में जिस विधान द्वारा प्रत्येक विज्ञान-क्षण का उद्भव नियन्त्रित होता है, उसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। योगाचार दर्शन में विज्ञान के सत् होने के कारण इसमें माध्यमिकों के विपरीत प्रतीत्यसमुत्पाद को परमार्थता का लक्षण माना गया है। इसमें तथा अन्य कई विषयों में हम देखते हैं कि योगाचार मत हीनयानी अभिधार्मिक परम्परा की ओर लौटता है, जबकि माध्यमिक उससे पूर्णतः विलग हो जाते हैं।

प्रत्येक बौद्ध मत का सम्प्रदाय-केन्द्रित झुकाव कितना भी आत्यन्तिक क्यों न हो, वह मध्यमा-प्रतिपद् होने का दावा अवश्य करता है। इस तरह वह आत्यन्तिक मतों के बीच मध्यममार्ग का स्वकीय संस्करण निर्मित करता है। अभिधार्मिक मत वस्तुओं की सार्वभौमिक क्षणभंगुरता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है तथा साथ ही यह भी

दावा करता है कि प्रत्येक क्षण अपने पूर्ववर्ती क्षण द्वारा अनिवार्यतः निर्धारित होने के कारण वह उच्छेदवाद तथा शाश्वतवाद के मध्य में स्थित है। यदि आत्मा नित्य तथा कूटस्थ है, तो उसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति आत्मोत्थान का प्रयत्न नहीं कर सकता तथा वह जैसा रहा है, वैसा ही रहेगा। इस प्रकार सभी नैतिक आकांक्षाएँ निरर्थक हो जाती हैं। पुनः उच्छेदवाद हमारी नैतिक भावना के कम प्रतिकूल नहीं है। यदि वस्तु का पूर्ण विनाश हो जाता है, और इस कारण भविष्य में किसी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़नेवाला है, तो मनुष्य भविष्य के बारे में न कुछ सोच सकता है, न कोई योजना ही बना सकता है। सभी प्रयत्नों में वर्तमान और भविष्य के मध्य कारण-कार्य-भाव अपेक्षित है। किन्तु यह क्षणों के पूर्ण विलगाव के सिद्धान्त से सम्भव नहीं। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद दो आत्यन्तिकों के मध्य एक समझौता या समन्वय है। वस्तुएँ क्षणिक हैं, शाश्वत नहीं, तथापि क्षणों की उत्पत्ति नियम रहित नहीं। किसी तात्त्विक एकता के अभाव में भी पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती का कठोर बन्धन क्षणों को एक-दूसरे से बाँधता है। इस तरह कर्म और उसके फलों का अनिवार्य नैतिक सम्बन्ध सुरक्षित रहता है, यद्यपि उनको सम्बद्ध करनेवाली स्थायी आत्मा नहीं है।

माध्यमिकों के लिए, जैसा कि हम कह चुके हैं, नित्य आत्मा तथा वे क्षणिक अवस्थाएँ, जिनमें इसका विघटन करने की चेष्टा की गई है, दोनों ही समान रूप से असत् हैं। न तो मानसिक अवस्थाओं के अतिरिक्त कोई आत्मा है, और न ये अवस्थाएँ बिना किसी अनुगत एकता के संघटित ही हो सकती हैं। प्रत्येक अवस्था दूसरे पर आश्रित है, इस प्रकार स्वयं में निःस्वभाव है। सत्य को एक द्रव्यात्मक नित्य आत्मा के रूप में मानना वैचारिक रूढ़िवादित है। ऐसी आत्मा की सत्ता का निषेध करना भी कम रूढ़िवादी नहीं है। ये प्रमादजन्य दृष्टियाँ हैं। इन दृष्टियों से बचना ही मध्यममार्ग है। इस तरह सभी दृष्टियों की शून्यता का बोध ही माध्यमिकों का मध्यमा-प्रतिपद है।

योगाचार पुनः परमार्थ का रचनात्मक तथा भावात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। शुद्ध चेतना सत् है, किन्तु इसका ज्ञाता-ज्ञेय के द्वन्द्व के रूप में विभाजित होना असत् है। फिर भी इस सम्बन्ध के दोनों सम्बन्धी, ज्ञाता तथा ज्ञेय, समानरूप से त्याज्य नहीं हैं। वस्तु का अस्तित्व उसकी रचना-क्रिया तथा प्रक्षिप्तीकरण में है, वह अपने आप में कुछ नहीं है। किन्तु ज्ञाता का इस प्रकार निवारण नहीं किया जा सकता। यह इच्छा-क्रिया से अभिन्न है, जो अपने विषय-वस्तु की रचना करती है (अभूतस्य परिकल्पो यस्मिन्)। अतः यह तत्त्वतः शुद्ध चेतना (विज्ञप्तिमात्रता) से अभिन्न है; केवल इसकी ज्ञाता के रूप में प्रतीयमान भूमिका का निषेध अपेक्षित है। इस प्रकार वस्तुवादी अभिधार्मिक सिद्धान्त, जिसके अनुसार वस्तु एवं उसका ज्ञान दोनों ही समान रूप से सत् हैं, तथा माध्यमिक शून्यवादी सिद्धान्त जिसके अनुसार दोनों ही परस्पर सापेक्ष होने के कारण समान रूप से असत् हैं; दोनों ही ऐसी आत्यन्तिक स्थितियाँ हैं, जिनसे बचना चाहिए। विज्ञानवाद मध्यम स्थिति है, जिसके अनुसार ज्ञाता सत् है, तथा ज्ञेय असत्।



## IV

इस प्रकार बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन दर्शनों का एक संकुल है। इसने अपने ऐतिहासिक विकास में कई एक मूलगामी दार्शनिक प्रवृत्तियों (यथार्थवादी, प्रत्ययवादी एवं अद्वयवादी) को अवाप्त किया है। फिर भी, जैसा कि किसी भी विचार-परम्परा के विकास की एक स्वकीय धारा होती है, बौद्ध समूह के दर्शनों के विकास की भी एक स्वकीय निष्ठा रही है। इस सौगत निष्ठा को यदि कोई नाम देना आवश्यक हो तो उसे नैरात्म्यवादी निष्ठा कहना ही अधिक उचित होगा। बौद्ध दर्शन के चारों प्रस्थान शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपद के द्वारा उच्च-से-उच्चतर स्तर पर नैरात्म्यवाद को ही प्रतिष्ठापित करते हैं। यह नैरात्म्यवाद कोई निरे सैद्धान्तिक उपक्रम नहीं, बल्कि एक जीवन-दर्शन भी है। यह केवल सिद्धान्त नहीं वरन् निदान भी है। बौद्ध दर्शनों की निदानपरकता को 'पटिसोतगामी' जीवन-दर्शन कहा जा सकता है। संक्षेप में इसका अभिप्राय मानवीय चेतना की प्राकृतिक उन्मुखता, पाशविक अभिवृत्ति और जैव-वासना का आत्यन्तिक निरोध है। मनुष्य की चेतना जब प्राकृतिक आग्रहों एवं जैव बुभुक्षाओं से ऊपर उठती है, तभी वह अपने होने के अर्थ और गन्तव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है, अन्यथा वह राग-द्वेष और मान-मोह में उलझे होने को ही अपने होने का सत्य समझ रही होती है। इस जैव-वासना का अतिक्रमण किए बिना मानवीय परिस्थिति के नैतिकीकरण की कोई आत्मचेतन योजना (अप्पदीपो भव) हो ही नहीं सकती। हाँ, किसी परायत्त स्रोत से कोई आदेशात्मक योजना ऊपर से थोपी अवश्य जा सकती है। अतएव 'पटिसोतगामिता' ही मानवीय चेतना के नैतिकीकरण का बौद्ध निहितार्थ है। इस अर्थ में पटिसोतगामिता न केवल आधारभूत है, बल्कि नैतिकीकरण की पूर्वभूमि भी है, जिसे चेतना, कर्म और संसार के नैतिकीकरण की मूलगामी योजना के रूप में समझा जा सकता है।

बौद्ध समूह के दर्शनों में यह बात देखने लायक है कि किस प्रकार सभी बौद्ध-व्यवस्थाएँ मानवीय चेतना की प्राकृतिक अभिमुखता अथवा उसके स्वाभाविक रुझान के प्रतिपक्ष में खड़ी की गई हैं। मानवीय चेतना को इस प्रतिपक्ष में खड़ा होने के लिए तैयार करना ही पटिसोतगामी बौद्ध योजना का उद्देश्य है, जो मनुष्य को पहले-पहल नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है। बौद्ध मार्ग को जब आर्य-दृष्टि से अभिहित किया जाता है तो उसके आर्यत्व की पहचान यही पटिसोतगामिता है। द्रष्टव्य है कि 'अप्पदीपो भव' और 'सत्काय दृष्टि' (सत्काय दृष्टि प्रभवः सर्वे क्लेशः) जो बौद्ध जीवन-दर्शन की मूल प्रेरणा है, उसकी अन्विति भी पटिसोतगामिता से ही बनती है। हीनयान और महायान की मूल्य-दृष्टि एवं साधना-पद्धतियाँ सबके सब पटिसोतगामी भूमि पर ही मनुष्य के प्राकृतिक चित्त के विशोधन के लिए ही बनाई गई हैं। बौद्ध परम्परा में योनिशः और अयोनिशः मनसिकार पूर्वक धर्मप्रविचय तथा चित्त-चैतनसिकों के

सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण का जो अत्युच्च विभज्यवादी प्रयास किया गया है, उसका भी निहितार्थ चेतना के प्राकृतिक प्रवाह और उसकी अवस्थाओं (जिसमें राग-द्वेष आदि के बहुविध रूप उत्पन्न होते हैं) को पुंखानुपुंख समझकर उनसे निवृत्ति पाने के सूत्र खोजने में निहित है। माध्यमिकों का सर्वदृष्टि प्रहाण (सर्वदृष्टि प्रहाणाय शून्यतामृत देशना) भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह में बननेवाली यावत दृष्टियों को विखण्डित कर पटिसोतगामी चित्तभूमि पर ही खड़ा होता है। ऐसे ही शील, समाधि और प्रज्ञा तथा ब्रह्मविहार एवं षड्पारमिताएँ इत्यादि सबके सब चेतना के प्राकृतिक प्रवाह की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतिपक्ष रूप चित्तभूमि के रूप में ही परिभाषित किए गए हैं।

अतः बौद्ध दर्शनों से फलित होनेवाला जीवन-दर्शन वास्तव में एक पटिसोतगामी निदान है। यह मूल रूप से चेतना के प्राकृतिक आग्रहों में घिरे हुए मनुष्य का उपचार करता है और उसे नैतिक होने के लिए, बिना किसी अतिमानवीय लंगर के, आत्मचेतन रूप से तैयार करता है। दूसरे शब्दों में बौद्ध दर्शन की सम्पूर्ण कार्य-योजना मानवीय चेतना के संक्लेशों का व्यवदानीकरण अर्थात् विशोधन है (चित्तमेव संक्लिष्यते चित्तमेव व्यवदायते)। चेतना के व्यवदानीकरण द्वारा कर्म और संसार का नैतिकीकरण ही बौद्ध जीवन-दर्शन का मूलगामी स्वरूप है।<sup>19</sup>

#### सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी -

1. अभिधम्मत्थ सङ्गहो, भाग-1, पृ. 14, आज्ञा देने योग्य भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट विनयपिटक आज्ञाबहुल होने के कारण आणा (आज्ञा) देशना है। व्यवहार कुशल भगवान् बुद्ध द्वारा बहुलतया व्यवहार कौशल के लिए उपदिष्ट सुत्तपिटक वोहार (व्यवहार) देशना है। परमार्थ कुशल भगवान् बुद्ध द्वारा प्रमुखतः परमार्थ धर्मों के अवबोध के लिए उपदिष्ट अभिधम्मपिटक परमत्थ (परमार्थ) देशना है।
2. तत्त्वसंग्रह, कारिका - 3587, तापाच्छेदाच्च निकसात् सुवर्णमिव पण्डितैः। परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्बचो न तु गौरवात्।।
3. द्रष्टव्य, नेयनीतार्थविभंग शास्त्र सुभाषितसार (हिन्दी अनुवाद), पृ. 24-25, बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों में उनके वचनों की व्याख्या को लेकर दो पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक पद्धति से त्रिपिटक के विशिष्ट वचनों एवं सन्दर्भों की ही व्याख्या की जाती है, न कि समस्त बुद्धवचनों का सामंजस्य या समन्वय सिद्ध किया जाता है। दूसरी पद्धति में न केवल क्लिष्ट वचन और सन्दर्भों का अभिप्राय प्रकट किया जाता है, अपितु समस्त बुद्धवचनों का समन्वय भी सिद्ध किया जाता है। इसी दूसरी पद्धति द्वारा बुद्धवचनों की नेयार्थता और नीतार्थता का विभाजन किया जाता है और उनके अभिप्राय तथा अभिसन्धि का आश्रय ग्रहण करके इष्ट अर्थ की सिद्धि की जाती है।
4. रत्नावली, 4/95, यथैव वैयाकरणो मातृकामपि पाठयेत्। बुद्धोऽवदन्तथा धर्म विनेयानां यथाक्षमम्।।

5. भगवान् बुद्ध महापरिनिर्वाण के द्वार पर खड़े होकर प्रवेश से पहले दुःख सन्तप्त संसार की ओर देखते हैं और उनकी महाकरुणा जाग जाती है, तब वे संकल्प लेते हैं - कलिकलुषकृतानियानि लोके, मयितानि प्रवर्तन्ते विमुच्यते हि लोको ।
6. सर्वदर्शन संग्रह (चौखम्बा संस्करण), पृ. 95 और अभिधर्मकोश भाष्य, स्फुटार्थाः, पृ. 14.
7. अभिधर्मकोश, 1/2.
8. अभिधर्मकोश (रूसी संस्करण), स्फुटार्थाः, पृ. 12.
9. सौत्रान्तिक अभिधर्मपिटक को प्रमाण नहीं मानते हैं। अतः उनके सामने समस्या यह आती है कि त्रिपिटक व्यवस्था को वे कैसे अक्षुण्ण रखेंगे। इसके लिए सौत्रान्तिकों ने सुत्तपिटक के 'अर्थ विनिश्चय सूत्रों' को ही अभिधर्मपिटक स्थानीय माना है। अतः उन पर त्रिपिटक-व्यवस्था भंग का दोष नहीं लगता (नैष दोष, सुत्रविशेषा एव अर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्म संज्ञा, येषु धर्म लक्षणं वर्ण्यते)।
10. समाधिराजसूत्र - पृ. 30, तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः ।
11. मज्झिम निकाय, 1/3/8.
12. माध्यमिक कारिका, 24/18, यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यता तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ।।
13. वही, 13/8, शून्यता सर्वदृष्टिनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः। येषु तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे ।।
14. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/2/34.
15. माध्यमिक कारिका, 24/37.
16. वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, 1, विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थवभासनात् ।
17. वही, त्रिशिका, 1, आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा ।।
18. सैद्धान्तिक व्याख्याओं की विभ्रमकारी बहुलता में बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों में जो एकता के सूत्र सदैव परिलक्षित होते रहे हैं, उन्हें हमारी गुरु परम्परा में प्रो. टी.आर. बी. मूर्ति और प्रो. ए.के. चटर्जी ने शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमाप्रतिपद् के रूप में पहचाना है। द्रष्टव्य, प्रो. मूर्ति का आलेख 'दी मेटाफिजिकल स्कूल्स ऑफ बुद्धिज्म' सम्पा. - स्टडीज इन इण्डियन थॉट, हेराल्ड कोवार्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983 और प्रो. ए.के. चटर्जी का 'इण्ट्रोडक्शन', रीडिंग्स ऑफ योगाचार, उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्र, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977. मैंने भी यहाँ अपनी गुरु-परम्परा की ही एतद्विषयक अन्तर्दृष्टि को आगे बढ़ाया है।
19. बौद्ध धर्म-दर्शन की पटिसोतगामी जीवन-दृष्टि के लिए द्रष्टव्य मेरी पुस्तक 'भारतीयता के सामासिक अर्थ-सन्दर्भ' का 'आधुनिकता, अन्तरधर्म-संघर्ष और बौद्ध धर्म' नामक अध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015.

## आरक्षण का व्याकरण

---

मनोज कुमार राय\*

बचपन में पिताजी ने कणाद ऋषि की कथा बताते हुए यह बात समझाने की कोशिश की थी कि अन्न के एक-एक कण का आदर करना चाहिए। सभ्यता के आरम्भ से ही हमारे ऋषियों-मुनियों ने अन्न के आदर सहित सम्पूर्ण पर्यावरण की सीख हमें दी है। जब थोड़ा और बड़े हुए और खेत-खलिहान की तरफ जाना हुआ तो देखा कि सचमुच में गाँव के कई भाई-बन्धु पशुओं के गोबर से अन्न का दाना बीन रहे हैं। मन में कौतूहल हुआ कि क्या ये लोग ही कणाद ऋषि के सच्चे वाहक हैं? गाँव में ही यह भी देखा कि परम्परागत भोज की समाप्ति के बाद जूटे पत्तलों में बचे अन्न के दानों के लिए मनुष्य और कुत्ते दोनों संघर्ष कर रहे हैं। क्या ये सचमुच में अन्न के आदर के लिए संघर्ष कर रहे हैं? उत्तर था या है : नहीं। नहीं तो, फिर वह कौन-सी मजबूरी है, जो मनुष्य को इतना हेय बना देती है। आज जब हम 21वीं सदी के दूसरे दशक के मध्य में सीना ठोककर कह रहे हैं कि हम भी 'मंगल' ग्रह पर जाने की क्षमता रखते हैं। उधर 'इसरो' नित-नवीन ऊँचाइयों को छूने के लिए बेताब है। तब भी ऐसी भीषण और बीभत्स परम्पराएँ विद्यमान हैं। क्या यह उनके मानवाधिकार का हनन नहीं है? क्या उन्हें भी एक सामान्य जीवन जीने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए? क्या उन्हें अपना जीवन जीने के लिए उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होनी चाहिए? तमाम उपलब्धियों के बावजूद ये प्रश्न विचलित करने वाले हैं।

एक यथार्थ !

सरकारी नौकरियों में जाने के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए शहरों में कुकुरमुत्तों की तरह उगे हुए गली-कूचों के 8"10 के कमरों में 'मेरिट' में आने के लिए रात-दिन हाड़-तोड़ परिश्रम करते विद्यार्थी अपनी जिन्दगी के स्वर्णिम एक युग झोंक दे रहे हैं। लाखों की संख्या में बैठने वाले परीक्षार्थियों में से कुछ हजार ही सफल हो पाते

---

\*मनोज कुमार राय, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वरधा

हैं। पर उन्हें जब यह पता चलता है कि उनसे कम अंक प्राप्त करके भी उनका साथी सफल हो गया है तो उसे दिन में ही तारे नजर आने लगते हैं। कुछ अगले साल के तैयारी में लगते हैं तो कुछ निराश-हताश घर लौट जाते हैं। क्या यहाँ भी संविधान द्वारा प्रदत्त 'समान अवसर' का सवाल नहीं उठता है? क्या यहाँ भी मानवाधिकार का हनन नहीं हो रहा है? यह सवाल भी परेशान करने वाला है।

**एक कड़वा सच और!**

यह एक तथ्य है कि सैकड़ों वर्षों से भारतीय समाज-व्यवस्था असमानता और शोषण पर आश्रित रही है। शुचिता, वर्ण और जाति समगोत्रीय थे। समाज के स्तर-भेद के ऐतिहासिक विकास के कालक्रम में शुद्धता-अशुद्धता के विचार के साथ आर्थिक-राजनीतिक समीकरण भी गुँथे हुए थे। सत्ता के सामने समाज-व्यवस्था झुकने को मजबूर थी। कर्म का समाज-दर्शन ऊपरी स्तर पर तो स्वीकृत था पर श्रम को उसका सही सामाजिक मूल्य प्राप्त नहीं हो पा रहा था। एक खास वर्ग बड़ी चालाकी से गरीबी को भाग्यवाद से जोड़ने में सफल रहा। कुबेर की 'मन पवन की नौका' पर सवार होकर सदियों तक सागर पार कर सुदूर इलाकों में 'भारतीयता' की सुगन्ध फैलाने वालों पर अचानक बिजली गिरा दी जाती है—'खबरदार, समुद्र यात्रा करके आचार विचार मत भ्रष्ट करो'। तभी कोई अदृश्य मनु भी फतवा दे डालता है—'समुद्र यात्रा कराने-करने वाला ब्राह्मण धार्मिक कल्पों के कराने का अधिकारी नहीं'। उधर एक बूढ़ा आर्य पुरोहित हमें लगातार समझाता रहा—'मणि-माणिक-अर्थ-काम के लोभ से क्या फायदा। यह सब माया है। मैं तो तुम्हारी थाली में ही समुद्र उतार देता हूँ। इसमें हाथ डालो और जीवन की सबसे कीमती चीज 'अनन्त फल' यानी 'मोक्ष' प्राप्त कर लो'। फलस्वरूप 'भारतीय इतिहास में करीब हजार वर्षों तक सामाजिक संगठन, विवाह, खान-पान, शिक्षा-दीक्षा और आचार-विचार के क्षेत्र में 'जीवन निषेध' और 'जीवन जिजीविषा' के लिए चली लम्बी लड़ाई के अन्त में 'निषेध' जीत गया, और 'जिजीविषा' हार गई'। फिर भी गतिशील निषाद मन ने शायद ही इसे पूरी तरह स्वीकार किया हो। उन्नीसवीं शती में फिर से एक बार निषाद मन गंगा में डुबकी लगाकर उठ खड़ा हुआ। इस बार वह पहले से ज्यादा सतर्क और सावधान था। राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र, दयानन्द, विवेकानन्द, गाँधी, नेहरू और अम्बेडकर उसी अव्याहत 'जिजीविषा' की जीवन्त साँस बनकर हमारे सामने उपस्थित हुए।

आजादी की लड़ाई के दौरान ही भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक बुराइयों को लेकर भी आधुनिक भारत के निर्माता संवेदनशील थे। गाँधी और अम्बेडकर इस जटिल मुद्दे को लेकर अपने-अपने तरीके से आन्दोलन भी चला रहे थे। पर हजार वर्षों से 'डी एन ए' में घुसी बीमारी एक झटके में कहाँ खत्म होने वाली थी। पुरातनपन्थी गाँधी-अम्बेडकर पर ही अपनी लाठी को भाँजने से नहीं चूकते थे।

आजादी के संघर्ष के दिनों से ही हमारे संविधान निर्माताओं के मन-मस्तिष्क में प्रजातन्त्र, समता, सामाजिक न्याय, बन्धुत्व, एकता आदि के आदर्श सक्रिय थे। यह ठीक है कि कुछ आदर्श पश्चिम से भी लिए गए जो उनके दीर्घकालिक सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं की उपज थे। लेकिन इसमें संविधान निर्माताओं के अध्ययन और अनुभव की देन को नकारना भी असम्भव है। संविधान की उद्देशिका को पढ़कर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक बड़े नामी राजनीतिशास्त्री ने लिखा—“जब मैंने इसे पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि मैंने अपनी सारी पुस्तक में जो कुछ कहने का प्रयास किया है, वह इसमें बहुत थोड़े शब्दों में रख दिया गया है और इसे मेरी पुस्तक का मूल स्वर माना जा सकता है।”

यह कथन संविधान निर्माताओं की निष्ठा को प्रमाणित करता है। वे भारत को एक आधुनिक भारत के रूप में बढ़ते देखना चाहते थे। गाँधी ने स्वयं कहीं लिखा है : It is against the fundamental principles of humanity, it is against the dictates of reason that a man should, by reason of birth, be denied or given extra privileges.

#### भारत में जाति आधारित आरक्षण व्यवस्था और संवैधानिक प्रावधान

व्यक्तिमात्र को ब्रह्म का प्रतिरूप मानने, नारी को शक्ति मानने, महाकरुणा के सिद्धान्त प्रतिपादन करने तथा दरिद्र में नारायण का दर्शन करने वाले देश में सदियों से ऐसी प्रथाएँ चलती आ रही थीं, जो किसी भी सभ्य देश अथवा मानवता के प्रतिष्ठा पर कलंक का धब्बा हो सकता है। अनुसूचित जाति के लोग तथाकथित सामाजिक दबावों के चलते इन निकृष्ट प्रथाओं के सैकड़ों वर्षों से वाहक बने रहे। आजादी के तुरन्त बाद संविधान ने इस अमानवीय प्रथाओं पर तुरन्त रोक लगाई, जो मनुष्य को मनुष्य से हेय समझने में सहायक बनी हुई थीं। यह एक तथ्य है कि वैदिक काल में व्यक्ति के वर्ण की पहचान उसके सामाजिक-आर्थिक कर्तव्य अथवा पेशा से होती थी और यह वर्ण जाति का सूचक नहीं था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की मनाही नहीं थी। तथापि कालान्तर में जन्म के साथ ही जाति की खोजबीन की और स्वयं को उससे श्रेष्ठ साबित करने की कोशिश की। वस्तुतः यह एक किस्म का चालाकी भरा अघोषित नियम था, जो निचले तबके को विरोध करने से रोकता था। संविधान सभा के विद्वान सदस्यों ने इस दर्द को ठीक तरह से समझा और उसने इन लोगों को समाज में उनका वाजिब हक और प्रतिष्ठा कैसे मिले इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। उन्होंने उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए संविधान में कुछ आवश्यक प्रावधान दिए।

संविधान के अनुच्छेद 14 से 17 तक में गाँधी के उपर्युक्त कथन और उसकी व्याप्ति को सम्पूर्णता में लिया गया है। अनुच्छेद 14 वस्तुतः एक समतावादी समाज की निर्मिति पर बल देता है, जिसमें यह कहा गया है कि ‘विधि के समक्ष सभी समान हैं और बिना किसी विभेद के विधि के समान संरक्षण के हकदार हैं’। अनुच्छेद 15 राज्य

को यह अधिकार देता है कि वह किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक आधार पर विभेद न करे। लेकिन भारत की ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी रही हैं कि इनमें विसंगतियों का जड़ जमना स्वाभाविक था। उन विसंगतियों को दूर करने तथा एक सामाजिक सौहार्द बनाए रखने के लिए संविधान ने कुछ नई व्यवस्था दी, जिससे दौड़ में पीछे रह गए भाई-बन्धु भी स्वतन्त्रता के साथ आधुनिक सुख-सुविधाओं का आनन्द ले सकें और 'समानता' तथा 'बराबरी' तक पहुँच सकें। यह नई व्यवस्था ही 'आरक्षण' है और वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ध्यान देने की बात है कि सम्भवतः विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ यह व्यवस्था लागू है। संविधान का अनुच्छेद 5(4) राज्य को क्रमशः शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के कुछ वर्गों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार देता है। यह नीति उन्हें न केवल पदों को आरक्षित करने की शक्ति देता है, अपितु उच्च-शुल्क-शैक्षणिक योग्यता-अवसर आदि में भी छूट देने के साथ-साथ वजीफा आदि भी प्रदान करती है, जिससे वे प्रतियोगी दौड़ में शामिल हो सकें। उनके साथ साक्षात्कार में भेदभाव न हो इसके लिए प्रत्येक साक्षात्कार बोर्ड में उनके एक प्रतिनिधि का होना भी आवश्यक है।

राजनीति में उनकी सहभागिता हो तथा उनकी राजनीतिक हैसियत में वृद्धि हो इसके लिए संविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए लोकसभा में भी राज्यवार जनसंख्या अनुपात में आरक्षण का प्रावधान है। (अनु 330 और 334) इसी तरह राज्य, जिला, प्रखण्ड और गाँव में भी विभिन्न पदों के लिए उनके जनसंख्या के अनुपात में सीटों का आरक्षण किया गया है।

संविधान द्वारा प्रदत्त आरक्षण की यह नीति सरकारी संस्थानों अर्थात् सरकारी नौकरियों, सरकारी शैक्षणिक संस्थानों में शिक्षा हेतु प्रवेश और त्रिस्तरीय कार्यपालिकाओं में लागू है। इसमें प्राइवेट सेक्टर को शामिल नहीं किया गया है। समय के साथ सरकार ने इसका दायरा बढ़ाते हुए मकान, दुकान और व्यापारिक प्रतिष्ठानों के आबंटन में भी लागू किया है। यद्यपि कि कुछ क्षेत्रों में जैसे रक्षा, न्यायपालिका में इसे लागू नहीं किया गया है।

### आरक्षण का भीतरी झोल

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि दौड़ में पीछे छूट गए लोगों को मुख्यधारा में आने के लिए संविधान में मुकम्मल व्यवस्था की गई है। संविधान में उल्लिखित प्रावधानों का स्पष्ट उद्देश्य था कि आरक्षण पा रहे जातियों-वर्गों का लोक सेवा, सरकारी उपक्रम और शिक्षण संस्थानों में प्रतिनिधित्व बढ़े और एक सुन्दर और समरस भारत का निर्माण सम्भव हो सके। परन्तु आँकड़े कुछ और कहते हैं। सरकार और स्वयं के प्रयास से सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों की संख्या में सकारात्मक वृद्धि हुई है, जिससे उनकी आर्थिक और

सामाजिक हैसियत बढ़ी है। लेकिन जिनकी हैसियत बढ़ी है, वे अब इसे दूसरों के लिए छोड़ने को कतई तैयार नहीं हैं। अब तो आरक्षण पाने के लिए अन्य जातियाँ भी अपने को इस दौड़ में शामिल कर चुकी हैं।

यह एक तथ्य है कि आरक्षण का संवैधानिक प्रावधान भी प्रत्येक समुदाय-वर्ग में समाहित सभी जातियों के लिए बराबर का अवसर दे पाने में असफल रहा है। फलस्वरूप विभिन्न जातियाँ और जनजातियाँ जो इसकी हकदार थीं समान रूप से इसका लाभ नहीं उठा पाईं। उनकी भी अब आँख खुल गई है। अब वे भी मुखरित हो रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है इन समुदायों के भीतर एक प्रकार का ईर्ष्या-द्वेष पनप रहा है। जिन जातियों-समुदायों में कुछ शिक्षित हुए हैं, अब वे अपने हक के लिए पैतरेबाजी कर रहे हैं। यह पैतरेबाजी एक स्वाभाविक क्रिया है। अनुसूचित जाति के अन्दर चमार (उत्तर प्रदेश), महार (महाराष्ट्र), रामदासी (पंजाब) ने आरक्षण का अधिकांश फायदा ले लिया है। इसी तरह जनजातियों में 'मीणा' लोगों ने अधिकांश लाभ उठाया। आरक्षण की सही पहुँच की समस्या पिछले वर्गों को लेकर भी है। आरक्षण के इस दौड़ में तमाम जातियाँ कूद पड़ीं, जो राजनीतिक तौर पर न केवल मजबूत थीं, अपितु इतिहास में भी वे 'दबंग' और 'मजबूत' मानी जाती रही हैं। आज जब हम इस विषय पर चर्चा कर रहे हैं, ये जातियाँ राजनीतिक तौर पर सर्वाधिक मजबूत लोगों में शामिल हैं। केरल में एझवा, तमिलनाडु में नादार और थेवर, कर्नाटक में लिंगायत और वोकालिंगा, मध्य भारत में लोध और कुर्मी, बिहार और उत्तर प्रदेश में यादव और कुर्मी, राजस्थान और हरियाणा में जाट अपनी सामाजिक, आर्थिक हैसियत के बावजूद आरक्षण का लाभ लेने वाली जातियों में सम्मिलित हैं। इनमें से कोई भी जाति किसी भी प्रकार आरक्षण से बाहर नहीं होना चाहती है।

समस्या कहाँ है?

संविधान का अनु. 15(4) राज्य को यह अधिकार देता है कि वह 'सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग', अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था कर सकता है। शर्त यह है कि उसे इसका समाधान हो जाए कि कथित जाति-वर्ग का लोक-सेवा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं है। स्वाभाविक है कि कोई एक मानदण्ड तो इस वर्ग का निर्धारण नहीं कर सकता है। एक मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह व्यवस्था दी है कि अमुक जाति-वर्ग पिछड़ा है, का विनिश्चय केवल 'जाति' के आधार पर नहीं किया जा सकता है। 'चित्रलेखा बनाम मैसूर' के मामले में न्यायालय ने यह स्थापना दी कि पिछड़ा वर्ग के निर्धारण के लिए जाति एक प्रासंगिक कारण हो सकता है। एक अन्य मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि पिछड़ेपन के निर्धारण के लिए जाति और निर्धनता दोनों प्रासंगिक हैं। (के एस जयश्री बनाम केरल)। स्पष्ट है कि न्यायालय इस मामले में अपनी सीमाओं को पहचानते हुए उचित रास्ते की तलाश करता हुआ दिखता है। इन निर्णयों में एक



स्वस्थ समाज की रचना की छटपटाहट भी दिखती है। लेकिन उसके खुद के हाथ संविधान से बँधे हुए हैं। पिछड़े वर्ग में आने वाली जातियों की पहचान आदि वस्तुतः राज्य का मामला है। राज्य के साथ राजनीति का चोली-दामन का सम्बन्ध है। और वह हर हाल में इस झुनझुने को छोड़ना नहीं चाहती।

### आरक्षण और प्रतिभा

बुनियादी तौर पर यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि आरक्षण मूलतः व्यक्ति के उस मौलिक अधिकार-मानवाधिकार का उल्लंघन, जिसमें उसे जन्म से ही समानता का अधिकार और अवसर की समानता मिलनी चाहिए। यह मानीखेज है कि प्रत्येक व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी क्षमता-प्रतिभा के आधार पर चाहिए। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को खुले तौर अपनी प्रतिभा के बल पर विभिन्न सेवाओं, शैक्षणिक संस्थानों आदि में स्थान बनाने देने का अवसर मिलना चाहिए, जिससे वह समाज में अपना रचनात्मक योगदान दे सके। इस प्रयास में सफलता अथवा असफलता उसकी व्यक्तिगत होगी न कि संस्थागत। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आरक्षण वस्तुतः प्रतिभा की जगह प्रतिभाहीन लोगों को अवसर देता है, जो अन्ततः 'मानदण्ड' (स्टैंडर्ड) को ही नीचे गिराता है और अक्षमता को बढ़ावा देता है। यह तर्क एक सीमा-क्षेत्र तक ही सही है। बहुत से अध्ययनों से यह साबित हो गया है कि प्रशासन में कम पढ़े लिखे लोग भी बेहतर साबित हुए हैं बनिस्वत 'टापरों' के। लेकिन इसके विपरीत एक तर्क और भी है कि प्रतियोगिता तो समान लोगों के बीच में होनी चाहिए। जब समान वातावरण ही उपलब्ध नहीं है तो प्रतियोगिता उचित कैसे मानी जाएगी। यह कोई बताने वाली बात नहीं है कि बहुत सारी योग्यता व्यक्ति के सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर होती है।

वैसे भी लोक सेवाओं में आरक्षण का अर्थ वस्तुतः 'प्रतिनिधित्व नौकरशाही' की व्यवस्था है, जिसका सीधा अर्थ है समस्त समाज-वर्ग-जाति-क्षेत्र का लोक सेवा में उचित प्रतिनिधित्व हो जिससे कोई निर्णय लेते समय उस समाज विशेष के लोकाचार-प्रवृत्ति-संवेदना को भी ध्यान में रखा जा सके। ध्यान देने लायक एक और जो चीज है, वह है 'पर्याप्त प्रतिनिधित्व' का सही अर्थ समझना। इस पद विशेष में यह अर्थ सन्निहित है कि इसके लिए (पद) आवश्यक अर्हता-दक्षता को बनाए रखते हुए व्यक्ति विशेष का चयन करना। प्रतिभा की कोई आत्यन्तिक परिभाषा नहीं होती है। 'कला और सौन्दर्य' की तरह इसकी कोई निरपेक्ष परिभाषा भी नहीं बन सकती। भारत जैसे विविधता वाले देश में केवल तथाकथित 'प्रतिभा' ही चयन का मानदण्ड हो, यह भी बहुत उचित नहीं है। भारत में यह खुली किताब की तरह है कि चयन में 'प्रतिभा' नहीं, जाति-अर्थ-राजनीतिक सम्बन्ध ही प्रभावी हैं। इसके मकड़जाल में 'उच्च शिक्षा' से लेकर 'आयोग' तक सब फँसे हुए हैं। शिक्षा जगत में तो चपरासी से लेकर चान्सलर तक सबकी नियुक्ति पूर्व निर्धारित होती है। जिनके पास यह

शक्ति-त्रयी नहीं उपलब्ध है उनकी परेशानी स्वाभाविक है। आजादी के बाद सम्पूर्ण समाज के चौरफा मूल्यों में आई गिरावट ने इसको और मजबूत ही किया है। आरक्षण समाधान का कोई दीर्घजीवी सिद्धान्त नहीं है। यह तो भारत जैसे बहुलवादी देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों की परिणति था। पर राजनीति के लम्बरदारों ने इस सुविधा का इस कदर दुरुपयोग किया है कि इसकी मूल भावना ही नष्ट हो गई। अब आरक्षण एक दुधारी हथियार की तरह हो गया है।

**आरक्षण का व्याकरण : दर्द भी दवा भी**

संभवतः सरकार की कोई भी नीति इतनी विवादित नहीं रही है, जितनी कि 'आरक्षण-व्यवस्था' की नीति। यह एक सच्चाई है कि आरक्षण का लाभ बहुत से वे लोग नहीं उठा पा रहे हैं, जिनको यह मिलना चाहिए। आरक्षण का लाभ उन्हीं लोगों को मिला, जो पहले से ही समर्थ थे। प्रकृति की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जहाँ बलशाली का लाभांश सदैव अधिक होता है। आरक्षण के द्वारा प्रत्येक वर्ग-जाति में एक अलग द्विज पैदा हुआ और वह उसका लाभ उठाने में सफल रहा है। आरक्षित वर्ग में पैदा हुए नव्य द्विजों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसका लाभ उठाते हुए स्वयं के लिए सीढ़ी तैयार कर ली है। किसी विद्वान ने इस स्थिति को 'ऊपरी स्तर' पर विकास और निचले स्तर पर 'जड़-स्थिर' की संज्ञा दी है। सवाल यहाँ यह उठता है कि क्या आरक्षण की सीढ़ी से चढ़ जाने के बाद भी वह अब भी समाजार्थिक रूप से पिछड़ा ही है? यह एक विचित्र विरोधाभास है कि यहाँ लाभार्थी अपने लाभ को 'व्यक्तिगत' मानता है न कि 'जातिगत'। वह यह मानता है कि जाति-विशेष के अधिकांश लोगों की स्थिति तो जस-की-तस ही है। यह 'नव्य-द्विज' अपने लिए एक अलग समूह-श्रेणी-सीढ़ी बना लेता है। स्पष्ट है कि आरक्षणवादियों के बराबरी का व्याकरण कुछ अलग है। वह तर्क करता है कि यह आरक्षण उसे जाति के आधार पर दिया गया है। वह भले ही पढ़-लिखकर अपनी शैक्षिक-आर्थिक हैसियत बढ़ा चुका है, परन्तु उसकी सामाजिक स्थिति अभी भी नहीं बदली है। तर्क के तरकश से वह यह तीर भी चला देता है कि उसके वर्ग-जाति के आगे बड़े लोग उस जाति-विशेष के लोगों के अहंकार की तुष्टि करते हैं। मण्डल कमीशन ने इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा है—“आरक्षण पिछड़े वर्गों के बीच यह भाव पैदा करता है कि देश चलाने में उनकी भागीदारी है।” यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आरक्षण का मतलब जातियों के बीच की असमानता को कम करना है, न कि जाति के भीतर की गैर-बराबरी को खत्म करना। उच्च जातियों में भी कुछ खास लोगों का ही पद-प्रतिष्ठा और शिक्षा पर कब्जा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो लोग पद पर नहीं हैं, उन्हें आरक्षण मिलना ही चाहिए। इसी प्रकार आरक्षित समुदाय में नव्य-द्विजों का उभरना वस्तुतः उस जाति की सामाजिक हैसियत की बढ़ोतरी का सूचक है।

## समाधान के तरीके

भारत एक बहुलतावादी और बहुसंख्या वाला देश है। यह इस देश की कमजोरी भी है और ताकत भी। आजादी के बाद सरकारों द्वारा दलित और पिछड़े वर्गों को मुख्यधारा में लाने के अनेक प्रयास हुए हैं। ये प्रयास सकारात्मक रहे हैं। आज यह एक सच्चाई है कि गाँवों में भी उच्च जातियों की 'श्रेष्ठ-ग्रन्थि' अन्तिम साँस ले रही हैं। आर्थिक ढाँचे बदल रहे हैं। उच्च वर्गों की जमीनें उसी जगह के दलित और पिछड़े वर्ग के लोग ले रहे हैं। गाँव की जमीन अब प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं रह गई है। शिक्षा और रोजगार में सब एक-दूसरे को चुनौती देने को तत्पर हैं। समाज का हर तबका अब जाग चुका है। वह अपने हक-हुकूम को अच्छी तरह समझने लगा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आरक्षण ने कुछ जातियों के कुछ लोगों को ही फायदा पहुँचाया पर इच्छाएँ सभी की जग गईं। उधर आरक्षण से वंचित नई पीढ़ी यह मानने लगी है कि इतिहास में जो कुछ हुआ, हम उसके दोषी कैसे हो जाएँगे। आज हम तो किसी से किसी प्रकार का खान-पान से लेकर रहन-सहन तक में कोई भेद-भाव नहीं करते हैं। युवा पीढ़ी को तब और कष्ट होता है, जब वह देखता है कि हर तरह से मजबूत परिवार का विद्यार्थी आरक्षण का लाभ लेकर उसे पीछे छोड़ देता है। यह पीढ़ी या तो विदेश भाग रहे हैं अथवा अवसाद की तरफ जा रही है।

आज समय की यह माँग है कि आरक्षण नीति पर पुनर्विचार हो। इसके लिए तटस्थ होकर कुछ ठोस उपाय करने होंगे। ये उपाय निम्न हो सकते हैं—

1. आरक्षण का प्रावधान लम्बवत न होकर क्षैतिज होना चाहिए। एक बार जिस व्यक्ति ने नौकरी में आरक्षण का लाभ उठा लिया है उसकी आने वाली पीढ़ी को आरक्षण का लाभ नहीं मिलेगा। इसका लाभ यह होगा कि उसके पड़ोसी का लड़का भी उस जगह के लिए अपनी दावेदारी सुनिश्चित कर सकेगा।
2. एक बार जिस व्यक्ति ने नौकरी में आरक्षण का लाभ उठा लिया है तो दुबारा वह किसी अन्य सेवा में इसका हकदार नहीं होगा। इसका सबसे बड़ा लाभ होगा कि उसी के भाई-बन्धु अगली बार उस सेवा में अपनी दावेदारी सुनिश्चित कर सकेंगे।
3. आरक्षण प्राप्त कर अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ा चुकी जातियों को इस परिधि से बाहर किया जाए, जिससे संविधान की आत्मा की रक्षा हो सके।
4. क्रीमी लेयर के दायरे को नीचे किया जाए। नीति आयोग के द्वारा निर्धारित गरीबी रेखा को ध्यान में रखकर ही क्रीमी लेयर का सूत्र ईजाद होना चाहिए।

सरकार की जिम्मेदारी बनती है कि वह इस दिशा में सुचिन्तित कदम उठाए, जिससे समाज में समरसता बनी रहे और प्रतिभा पलायन न हो। लेकिन यह तभी होगा, जब उसके पास राजनीतिक इच्छाशक्ति हो।

## झारखण्डी जनजातीय साहित्य में राजनीतिक चिन्तन

डॉ. युगल झा\*

झारखण्डी जनजातीय साहित्य के लिए भाषा का महत्त्व केवल विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति मात्र के लिए नहीं है, बल्कि आदिवासियों की जीवन संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना, राजनीतिक चिन्तन एवं अपने समाज की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, इतिहास, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान एवं परिवर्तन के इस दौड़ में इसकी वैचारिकी से रू-ब-रू होने के लिए है। यह सच कि आदिवासियों की अपनी विशिष्ट समाज व्यवस्था है, संस्कृति है, दर्शन है, इतिहास है, और इन सबको अभिव्यक्त करने के लिए उनकी अपनी मातृभाषा है। लेकिन विकास की तमाम घोषणाओं के बावजूद कथित मुख्यधारा का समाज आदिवासी दुनिया से लगभग अपरिचित है। सच्चाई यह है कि आदिवासी दुनिया अपने स्वाभाविक रूप में अपनी मातृभाषा में ही मौजूद है। मूलतः झारखण्ड की जनजातीय भाषाओं में संताली भाषा साहित्य एवं मुण्डारी भाषा साहित्य आग्नेय परिवार की सन्तान है। जिनका अध्ययन एवं अन्वेषण राष्ट्रीय चिन्तन के दृष्टिकोण से हमने इस आलेख में किया है। यहाँ गीत, कथाएँ, लोकगाथाएँ, मुहावरों एवं पहेलियों इत्यादि में ज्ञान-विज्ञान, दर्शन एवं राजनीतिक चिन्तन की सामग्रियाँ बड़ी मात्रा में मौजूद हैं। लेकिन इसका अधिकांश भाग अभी तक मौखिक एवं अप्रकाशित है।

जनजातियों के वाचिक साहित्य में रीति-रिवाज, मान्यताएँ, मिथकीय एवं कलात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। उनका गम्भीर ही नहीं सूक्ष्म अध्ययन होना अभी बाकी है। किसी भी जनजातीय समाज का इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में भू-भौतिकी एवं पर्यावरण का अध्ययन नियामक होता है। लेकिन आज तक इसका प्रयास मुकम्मल दिख नहीं रहा है। राजनीतिक चिन्तन किसी भी राष्ट्र और समाज की वह अन्तर्दृष्टि है, जो परम्परागत तौर से अभिसमयों (रीति-रिवाजों, धर्म-संस्कृति एवं

एसोसियेट प्रोफेसर, के. के. एम. कॉलेज, पाकुड़, सिदो कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका।

ईमेल-yugaljha@rediffmail.com] yugaljha1@gmail.com, दूरभाष- 09334338348

आस्था-विश्वास, सृजन एवं निर्माण, वाद-प्रतिवाद एवं संवाद) की विपुल धाराओं एवं सामग्रियों से प्राप्त होता है। जिसका वर्णन हम प्रथमतः उस राष्ट्र और समाज के लोक-साहित्य में पाते हैं। आज जरूरत है इन बातों और छूट गए अनेक विषयों को आदिवासी विमर्श में सक्रियता से सूचीबद्ध करने की। आदिवासी साहित्य के शोध कर्ताओं एवं रचनाकारों को इन्हें अपने लेखन का आधार बनाकर भाषा-साहित्य की सृजनशीलता के रथ पर जनजातीय समाज के सप्तांगी जीवन-दर्शन की व्याख्या करने की है, जिसमें राष्ट्रीय चिन्तन के सारे तथ्य मौजूद हैं।

परिचय—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कौटिल्य ने संस्कृत साहित्य की लोक-लुभावनी शब्दावलियों में प्राचीन भारत की राज्यव्यवस्था के लिए 'दण्ड-नीति'<sup>1</sup> जैसी सूक्तियों की रचना की एवं भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए राजनीति चिन्तन के सप्तांग सिद्धान्त या मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। निःसन्देह आदिवासी साहित्य की लोक-कथाओं में राजनीतिक चिन्तन और राज्य-व्यवस्था के ऐसे सन्दर्भ मिलते हैं। जनजातीय संताली साहित्य की दन्तकथाओं के अनुसार प्राचीन समय में किन्हीं चाय-चम्पा स्थान में इनका अपना राज्य था। यहाँ पर सन्ताल समाज के किस्कू गोत्र वाले राजा था। सोरेन गोत्र वाले लोग सैनिक हुआ करते थे, मराण्डी गोत्र वाले व्यापारी, दुडू गोत्र वाले शिल्पी, बासकी एवं मुर्मू गोत्र वाले पुजारी एवं भविष्यवक्ता के रूप में अपनी भूमिका अदा करते थे। यह राज्य अपने समय का, इनके समाज का स्वर्ण युग था<sup>2</sup>। राज्य के सीमांचलों की मजबूत दुर्ग व्यवस्था थी जिनकी संख्या क्रमशः चाय-चम्पा, गढ़े, बारोली, कोयण्डा, कानधारी, हरादाता, मयनामाती, ली, विच्छी, गारवा, गरहन, बगियात और दाह थे।

आज सन्ताल साहित्य के पुराने लोकगीतों पर जो शोध हुए हैं, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी राजधानी जिसका अपना एक वैभव था, गढ़ों और दुर्गों से पूर्णतः सुरक्षित था। संताल लोकगीतों की झलकियाँ इस प्रकार हैं—

*हिहिड़ी मा जेनोम होयलो  
पिपिड़ी मा गढ़िलो  
जो जय चाय-चम्पा गाड़ा।*

सन्तालों के सृष्टि गीत या अमर गीत यानी प्रब्रजन गीत (विस्थापन के गीत) इत्यादि में उनके पूर्वजों की गाथा सुरक्षित है। संतालों के पूर्वज हंस-हंसिनी के अण्डे से हिहिड़ी पिपिड़ी नामक स्थान में पिलचू हड़ाम और पिलचू आया (बूढ़ी) यानी दो छोटे-छोटे मानव निकले थे। बाद में चलकर नर-मादा मानव ने सात नदियों के देश सासाड़बेड़ा में वंश वृद्धि की थी और बारह गोत्र में इनका सन्ताली समाज विभाजित हुआ था, जिसके आधार पर ऊपर वर्णित राज-व्यवस्था का वर्णन मिलता है<sup>3</sup>। लेकिन इस दन्तकथा के आधार पर संतालों का संताल परगना में आगमन चाय-चम्पा से 'तुरीपुखरी' फिर बादेला हुआ। अन्त में अपने पुराने स्थान चम्पा (हजारीबाग) पहुँचे।

वस्तुतः यह पूरा क्षेत्र मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार और पश्चिम बंगाल में पड़ने वाले विभिन्न स्थान के प्राचीन नाम हैं। ज्ञात हो कि संताल परगना पूर्व बिहार और वर्तमान झारखण्ड का संताल परगना प्रमण्डल है, वहाँ संताल लोगों की सबसे ज्यादा आबादी है। लेकिन संताल साहित्य के अनुसार इनका राज्य-क्षेत्र ईरान (अयरे दिसोम) एवं अफगानिस्तान (कायणडे दिसोम) तक फैला हुआ माना गया है।

सिन्धुघाटी सम्यता के प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों में भी इनकी पूजा-अर्चना के प्रतीक चिह्न इनके जीवन संस्कृति एवं राजनीतिक चिन्तन का परम्परागत आधार ही प्रदान नहीं करता है, बल्कि इनकी सृजनशीलता को लय और गति प्रदान करता है। प्रकृति पूजा के दस्तावेजी सबूत के आधार पर जंगल एवं पहाड़ों की गोद से समवेत शिखर (पारसनाथ) पर पशुपति (शिव) की पूजा और मातृ देवी की मूर्तियों पर विभिन्न प्रकार के सांकेतिक चिह्न इस बात की पुष्टि करते हैं कि संताल एवं अन्य जनजातियों का निवास स्थान यहाँ पर रहा है। सच्चाई यह है कि संताल जनजातियों के बीच इनकी पूजा-उपासना के प्रतीक मराँग-बुरू (महादेव) एवं जाहेरा ऐरा (भगवती) झारखण्ड में संताल जनजातियों की लोक-कथाओं में आध्यात्मिक चेतना के प्रेरक प्रतीक हैं<sup>4</sup>। जिनकी पूजा संताल समाज के सुख-दुःख की हर एक दिनचर्या में होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि संताल समाज ने अपनी अस्मिता और पहचान के जितने भी संघर्ष किए, उसमें अपने ठाकुरबाबा का पहला आदेश जरूरी समझा है। यही कारण है कि वीर सिदो-कान्हू ने अपने जनजातीय समाज की अस्मिता का प्रथम संघर्ष का बिगुल फूँका, जिसे संताली भाषा में 'हूल' कहा जाता है। अपने ठाकुर बाबा की अनुमति लेने के बाद ही प्रारम्भ किया।

झारखण्ड बनने के पूर्व जनजातीय समाज के वीर सपूतों ने सिदो-कान्हू के नेतृत्व में स्वशासन जिसे संताली में 'आबुआराज' कहते हैं, का जो स्वप्न देखा था उसकी ही परिणति 1857 का देश की आजादी का पहला स्वतन्त्रता संग्राम था। 1855 का यह संताल जनजातीय विद्रोह प्रथम दृष्टि में अपनी असफलता के बाद भी इतिहास के नक्शे पर संताल परगना की जमीन तैयार कर गया। पूरे भारत की धमनियों में राजनीतिक चेतना का ज्वार पैदा किया और पूरा देश अपनी स्वतन्त्रता और आजादी के लिए राजनीतिक चिन्तन की विभिन्न धाराओं में बँटकर भारतमाता की दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए तैयार हो उठा। संताल साहित्य की शोध प्रज्ञा सुसान्तो मुर्मू लिखती हैं—

*अमाँ यू तुमते  
मराँग-बुरू, ठाकुरबाबा, जाहेर-ऐरा,  
आबुरेन नेता चेलका,  
सिदो-कान्हू लीका*

सरजोम दारी हरियर सकाम,  
भोगनाडीह बुरु चोटखान, अंजोम  
म्यमते जद्वदाओ, सेगलडगार,  
जय हूल<sup>६</sup>।

हिन्दी अनुवाद—हे मेरे देवता, हे मेरी देवी हम अपने ऐसे नेता के साथ हैं। जिसे आपने मेरे पास सिदो-कान्हू के रूप में दिया है। सागवान के हरे पत्तों से, भोगनाडीह की पहाड़ियों से यह आवाज आई है। खून से लथ-पथ अग्निपथ। जय हूल (क्रान्ति)

शोध संज्ञान की अभीष्टता—अतः संताली भाषा साहित्य में लिखा यह क्रान्ति गीत संताल जनजातीय समाज के क्रान्तिपुत्र सिदो-कान्हू की शहादत में अर्पित हृदय से निकला हुआ शब्द की श्रद्धांजलि है, जिसमें आदिवासियों की अस्मिता, इसकी शानदार परम्परा एवं धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए यदि जरूरत हुई तो एक बार-नहीं हजार बार अपनी शहादत की याद दिलाई है। आज इस जनजातीय समाज की अस्मिता और इसके चतुर्दिक जीवन विकास की यात्रा पर जिस तरह की साजिश हो रही है, यह चिन्ता का विषय है। इस पर गम्भीर विमर्श की आवश्यकता है। सरकारें आदिवासी संस्कृति को उनके नाच-गान, पहनावे, भोजन, हस्तशिल्प आदि के प्रदर्शन तक बनाए हुए हैं। बाजार चतुराई से उन्हें फैशन, व्यापार का हिस्सा बना रहा है। आदिवासी साहित्य का गहरा सम्बन्ध इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति एवं भूगोल के आवरण से निकले नैसर्गिक रूप में उपस्थित वस्तुओं (मिट्टी, लकड़ी, रंग, धातुओं) आदि से है। लेकिन ऐसी विविध विरासत की आभाओं में रंग भरने एवं इसके दस्तावेजीकरण के लिए अभी तक कोई ठोस योजना नहीं है। आदिवासी साहित्य का संवर्धन और प्रकाशन सरकार के लिए प्राथमिक विषय नहीं है, जबकि सम्पूर्ण जनजातीय लोक साहित्य में राष्ट्र और समाज के साँचों के निर्माण के लिए विपुल धाराओं का अक्षय भंडार भरा पड़ा है। जिसमें प्रकृति, पर्यावरण, धर्म, संस्कृति, रीति- रिवाज, प्राकृतिक संसाधन एवं जनजातीय समाज के दार्शनिक भावभूमि की मजबूत पृष्ठभूमि है।

तथ्य विश्लेषण—विकास और नवसंस्कृतिकरण की आधुनिक उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय विकास की नई परिभाषा से अगर किसी जीवन व्यवस्था को भ्रमित किया है तो वह है आदिवासी अस्मिता की संचित जीवनधारा एवं उसकी ऐतिहासिक परम्परागत प्राकृतिक सत्ता, जिसमें उसकी माटी और झोपड़ी की संस्कृति ही कराह उठी है। आरण्यक जीवन व्यवस्था में जलवायु का भी गहरा असर जनजातीय समाज की काव्यात्मक संस्कृतियों पर पड़ता है, जिसमें दैनन्दिन जीवन का खान-पान, संगीत, पहनावा से लेकर कई आयाम हैं, जो कलाओं को अपने ढंग से अभिव्यक्त करते हुए परम्परा को सुदृढ़ करते हैं। लेकिन ऐसी विरल अनुभूतियों को भी मुख्यधारा की सृजनात्मक साहित्य में प्रासंगिकता नहीं मिल रहा है। अतः आदिवासियों की बहुआयामी संघर्षपूर्ण जीवन से बनी परम्पराओं को ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक ढंग से रखने की जरूरत है। भले ही वेदोटेमिक रीति-रिवाज हो, अनुष्ठान हो, पुराने संस्कार या रहने-जीने का आदिम शिल्प। आज संताल साहित्य की लोकगाथाएँ, लोकगीतों, कहावतें, पहेलियाँ और मुहावरों में भी अलक्षित ज्ञान के स्रोत हैं। जिन्हें सृजनशीलता के साथ संताल साहित्य की विभिन्न विधाओं में विकसित करने की जरूरत है, जिससे झारखण्डी राजनीतिक चिन्तन की प्रक्रिया को नई राजनीतिक व्यवस्था की आधारभूत संरचना के लिए तैयार किया जा सकता है। वस्तुतः विश्व में मानव सभ्यता का इतिहास इस आदिम सभ्यता के इतिहास का ही परिष्कृत रूप है। अतः अगर विश्व की मानव सभ्यता को लोक कल्याणकारी एवं उत्कृष्ट बनाना है तो पाँच हजार वर्षों से चली आ रही इस जनजातीय संस्कृति और समाज के महत्त्व का प्रतिपादन सुदृढ़ वैश्विक राजनीतिक व्यवस्था की सबसे बड़ी जरूरत है, जिसमें भारत की भूमिका अग्रणी होनी चाहिए।

प्रामाणिक तथ्यों के साथ यह कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता में जिन लिपियों के चिह्न मिलते हैं, उनका प्रयोग जनजातियों में पशुधन या अन्य वस्तु की पहचान करने के लिए या फिर उनकी आवाजाही को सुरक्षित करने के लिए किया जाता रहा है। यह प्रथा इस जनजातीय समाज में आज भी प्रचलित है। लेकिन जहाँ तक भाषा-साहित्य का सवाल है, आज भी इनकी स्वीकृत लिपियाँ नहीं बन पाई हैं। हालाँकि संताल साहित्य की भाषा विवरणी में लिपि के जनक के रूप में पं. रघुनाथ मुर्मू की चर्चा अब होने लगी है। इन्होंने संताल साहित्य की भाषा की अभिव्यक्ति के लिए 'ऑलचिकी' लिपि के स्वरूप का उद्घाटन किया है। इसी लिपि में इन्होंने संताल साहित्य की अपनी पुस्तक लिखी है। जिसे व्यापक स्वीकार्यता की आज भी जरूरत है। मूलतः संताल साहित्य ग्राम साहित्य या वाचिक साहित्य है<sup>6</sup>।

भारतीय लोक-साहित्य के प्रारम्भिक अध्येता कवि रामनरेश त्रिपाठी ने अपने शोध प्रेरक अनुभवों को लिखते हुए कहा है—'पुरातत्त्व के विद्वान पुराने खण्डहरों को खोदकर उनकी ईंट-पत्थर और मूर्तियों को जमा करते हैं और उनसे उनके जीवनकाल का इतिहास खोजते हैं तथा उस पर लिखी भाषा को वे ही समझते हैं। परन्तु ग्राम साहित्य या वाचिक साहित्य स्वयं बोलता हुआ इतिहास है, जो केवल विद्वान ही नहीं अनपढ़ एवं अशिक्षित लोग भी समझते हैं।' जब हम संताली लोक-साहित्य को स्व. कवि त्रिपाठी जी की उपर्युक्त कसौटी पर कसते हैं तो यह प्रत्येक दृष्टि से सही उतरता है। सच्चाई यह है कि इनका साहित्य किसी प्रकार के सिक्कों या शिल्प लेखों में नहीं भोजपत्रों या ताम्रपत्रों पर नहीं, प्रत्युत युग-युगान्तर से उनके कण्ठों में सुरक्षित रहता आया है। सदियों की उपेक्षा और अशिक्षा के अन्धकार में पल रहे संताल लोगों ने इसे सिर्फ एक-दूसरे के मुँह से सुनकर आज तक अक्षुण्ण रखा है। यह कम बड़ी बात नहीं है। अतः संताल साहित्य की सामग्रियों में जिन मुहावरों या नारों का प्रयोग हुआ है, उसमें राजनीतिक चिन्तन के प्रेरक तत्त्वों की भरमार है। संताली साहित्य की बोलियों में लिखी पंक्तियाँ इस प्रकार है—



रोड़ाक गी रड़ाक, तारामाक गी  
हिलावाक  
सरजोम हरियरदारी,  
आलाक सरहूल, आलाक बाहा दिना  
आबुआ आतो आबुआ राज<sup>7</sup>।

हिन्दी अनुवाद—

अपनी वाणी अपना संगीत,  
अपनी चाल अपना नृत्य,  
सरहूल, बाहा, पर्व मनाया,  
अपना गाँव अपना देश।

यायावर कवि नार्गार्जुन ने आदिवासी जीवन संस्कृति को नैसर्गिक सत्ता की सबसे बड़ी अमानत माना है।

इन्हें न तुम बेचारे कहना  
अजी, यही तो ज्योति कीट है,  
जान भर रहे जंगलों में।

आखिर साहित्यकार नार्गार्जुन ने इस जनजातीय समाज को 'रश्मिचेतना का जीव'<sup>8</sup> कहकर क्यों पुकारा है? सच्चाई यह है कि पिछले तीन सौ वर्षों से राजमहल की तराइयों से लेकर कोल्हान एवं छोटानागपुर की पहाड़ियों में जनजातीय की अपनी मातृभाषा में जल-जंगल, जमीन, पर्वत, पहाड़ और पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जिन लोगों ने अपनी शहादत दी है, उनके लिए इनके लोकगीतों में कृतज्ञता के जो भाव अर्पित हुए हैं, वह अनूठा, अनुपम और चन्दन की तरह जन-जातीय समाज की घर-आँगन में पुती हुई राष्ट्रीय चिन्तन का गहरा आवरण है। युवा कवयित्री निर्मला पुतुल के द्वारा संताली साहित्य में लिखे गीतों का हिन्दी में अनुवादित कविताएँ निम्न रूप में हैं—

इन सदियों का क्या है? आएगी... जाएगी।  
जबकि तुम्हारे हिस्से में,  
भूख और थकान के सिवा क्या है?  
कुल्हाड़ी के सामने असहाय,  
रोज नंगी होती बस्तियाँ  
एक रोज माँगेंगी तुमसे  
तुम्हारी खामोशी का जवाब<sup>9</sup>।

शायद इसी आँचल की हरीतिमा की लूट के प्रयास को रोकने के लिए बाबा तिलका माँझी, वीर सिदो-कान्हू और धरती आवा बिरसा मुण्डा ने अपनी शहादत दी थी। प्रसिद्ध रचना 'बिरसा मुण्डा और उनका आन्दोलन जो झारखण्डी अस्मिता एवं

राजनीतिक चिन्तन की अद्वितीय पुस्तक है, में डॉ. कुमार सुरेश सिंह ने भी इन तथ्यों को रेखांकित किया है। मुण्डारी भाषा में लिखे इन गीतों का अनुवाद निम्न प्रकार है :

दुःख विपदाओं से असहाय हो उठी धरती,  
देश असहाय और बेसहारा हो गया,  
आओ झट से तीर धनुष और कुल्हाड़ी उठा ले,  
आज जिन्दगी से मौत कहीं अच्छी है<sup>10</sup>।

आज का झारखण्ड मातृ शक्ति की शहादत की सबसे बड़ी उपलब्धि है। जाहेर ऐरा की सन्तान जनजातीय समाज की माताएँ, आरण्यक संस्कृति की सबसे बड़ी पहचान हैं। देश में वनों की सुरक्षा एवं पेड़-पौधे के साथ-साथ जैव-विविधता के संरक्षण की जवाबदेही इन्हीं वनवासी महिलाओं के द्वारा होती रही है। चिपको आन्दोलन से लेकर पर्यावरण आन्दोलन में इन्होंने अपनी भागीदारी, उपवास, आमरण अनशन एवं जल सत्याग्रह जैसी मानवीय प्रतिरोधक शक्तियों से किया है। इतना ही नहीं औपनिवेशिक सत्ता की बर्बर और दमनकारी नीतियों का विरोध हिंसात्मक प्रतिरोध के साथ-साथ अपनी जान हथेली पर रखकर कुर्बान किया है। झारखण्ड के परिदृश्य पर आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करनेवाली माताओं की ये टोलियाँ अपना वनाधिकार एवं प्राकृतिक संसाधनों को अक्षुण्ण रखने के लिए वीर शहीदों के कारवाँ में शरीक होकर खून से लथ-पथ होती रही हैं। वस्तुतः झारखण्ड की माटी पर अग्निपथ का रास्ता जिन माँ-बहनों ने चुना उनमें फूलों-झानों सिंगी दाई, कैली दाई, मांकी मुण्डा एवं गया मुण्डा जैसी अनेक वीरांगनाओं की चर्चा है। युवा कवयित्री निर्मला पुतुल ने संताली लोकगीतों का हिन्दी अनुवाद निम्न रूप में किया है :

वे दबे पाँव आते तुम्हारी संस्कृति में,  
वे तुम्हारे नृत्य की बराई करते हैं,  
वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे कसते हैं,  
कौन हैं ये? सौदागर हैं। पहचानो इन्हें बिटिया मुर्मु<sup>11</sup>।

वस्तुतः यहाँ जनजातीय समाज की पीड़ा जल-जंगल-जमीन की हिफाजत और प्राकृतिक संसाधनों पर जन समुदाय के सामूहिक अधिकार की लड़ाई से प्रेरित है। पिछले अनगिनत दशकों से राजनीतिक सत्ता कॉरपोरेट घराने, ठेकेदार और पुलिस प्रशासन की मिलीभगत से जनजातीय समाज की आन्तरिक संरचनाओं में जिस तरह से हस्तक्षेप हुआ है, उसे पूरा झारखण्डी जनजातीय समाज हिल उठा है। सच्चाई यह है कि जब आदिवासी समाज अपने जल-जंगल-जमीन, नदी-पहाड़ से उजड़ता है तो वह अपनी जीविका, माटी और झोपड़ी से ही नहीं उजड़ता है, बल्कि वह अपने सामाजिक मूल्यों, भाषा, संस्कृति, इतिहास और भूगोल से भी उजड़ता है। जिस तरह से मछली पानी के बिना नहीं रह सकती है, उसी तरह प्राकृतिक धरोहर के बिना आदिवासी समाज जीवित नहीं रह सकता है।

अतः इन मूल्यों की रक्षा के लिए झारखण्डी राजनीतिक चिन्तन की स्फूर्त प्रेरणा से बड़े-बड़े आन्दोलन हुए हैं। जनजातीय समाज के महापुरुषों ने अपने प्राणों की आहुति दी। महान क्रान्तिकारी ठाकुर गणपत राय, नीलाम्बर-पीताम्बर, बिदराय सिंह राय एवं श्याम परगनाईत जैसे सपूतों ने अपने प्राणों की आहुति दी। ब्रिटिश इतिहासकारों ने इनकी शहादत को इतिहास के पन्नों पर रेखांकित करने से परहेज किया है। ऐसा सिर्फ जनजातीय समाज के इतिहास, संस्कृति एवं दर्शन की उत्कृष्टता पर प्रहार करने के लिए ही नहीं हुआ है, बल्कि पूरे भारतवर्ष की देश और माटी की जो अपनी पहचान है, उसे औपनिवेशिक साहित्य ने मटियामेट करने का प्रयास किया है।

सच्चाई यह है कि पश्चिमी इण्डोलॉजिस्ट की जो दृष्टि थी, उसमें भारतीय जीवन की मौलिकता की पहचान असम्भव था। आदिवासी या अन्य कोई संस्कृति उनके लिए एक विषय या वस्तु से ज्यादा कुछ भी नहीं हो सकता था। आदिवासी संस्कृति के 'प्राण' और 'आत्मा' उनकी दृष्टि में हाथी के कटे अंगों की तरह था। अतः किसी विशिष्ट परम्परा का विश्लेषण उनके लिए जनजातीय संस्कृति की पूँछ पकड़कर शरीर और सिर की व्याख्या जैसी थी। इसीलिए उनके आग्रह एक निष्कर्ष आदिवासी अस्मिता की मौलिकता के ठीक विपरीत था। भाषा हो, बोलियाँ हों, अपना आदिवासी संस्कृति का पाठ—उनके लेखन का हिस्सा नहीं बना पाया। अतः जनजातीय समाज की सर्वांगीण व्याख्या में पूर्णतः असफल रहे हैं।

सच्चाई यह है कि देश के मानव विज्ञान की संस्थाओं में एवं अधिकांश विश्वविद्यालयों में जनजातीय समाज की जीवन एवं संस्कृति के बारे में आज भी पश्चिमी दृष्टिकोण हावी है। अतः चाहे देश का लिच्छवी गणतन्त्र हो या जनजातीय समाज के चाय-चम्पा का गणतन्त्र दोनों ही व्यवस्था का मूल ग्रामीण स्वशासन एवं उसकी स्वतन्त्र सामाजिक राजनीतिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं की गतिमान व्यवस्था रही है। अतः सिर्फ आदिवासी जनजातियों की अस्मिता विमर्श के लिए ही नहीं सम्पूर्ण भारतवर्ष की जीवन-संस्कृति की मौलिकता के अध्ययन के लिए भारतीय इण्डोलॉजिस्ट का स्वतन्त्र रूप से संस्थापन होना चाहिए। हमें भूलना नहीं चाहिए कि आज परम्परा को लगभग जड़ मान लिया गया है और विकास को गत्यात्मक। विकास की अवधारणाओं में परम्परा का स्थान लगभग नगण्य है, जबकि परम्परा से गतिशील कोई भी सूत्र संस्था नहीं हो सकती है, जिसके सहयोग से राष्ट्र समाज और देश-काल की व्यवस्था अपना वैधानिक रूप ग्रहण करता है।

आदिवासी अस्मिता की इसी विशिष्ट परम्परा को कायम रखने के लिए इतिहास गवाह है कि जब झारखण्ड का जनजातीय जीवन की सामुदायिक व्यवस्था पर हमला हुआ है, सम्पूर्ण आदिवासी समाज में इन आक्रान्ताओं के प्रति असन्तोष की ज्वाला फूट पड़ी, जिसमें इन लोगों ने अंग्रेजों एवं देसी औपनिवेशिक संस्थाओं के विरुद्ध अपने संघर्ष को क्रमशः कायम रखा है। यही कारण है कि हजारों सालों से

सांस्कृतिक आक्रमण और अतिक्रमण के बावजूद आदिवासी जन-समुदाय अपने संघर्षों से इसकी हिफाजत करता आ रहा है। प्रख्यात सामाजिक कार्यकर्ता दयामनी बारला ने मुण्डारी साहित्य में लिखी राजनीतिक चिन्तन की सामग्रियों को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है :

डूबरी बुरु चेतन रे  
ओकोय दुमंग सुतानाको  
सुसुनेततनाँ ओकोय दुमंग रूतानाको  
बिरसा मुण्डा रूतानाको सुसुनेतताना <sup>12</sup>।

अर्थात् डूबरी पहाड़ पर कौन माँदर बजा रहा है? डूबरी पहाड़ पर बिरसा माँदर बजा रहा है। लोग नाच रहे हैं। बिरसा ने बताया है कि 'सिंगबोगा' ही हमारा धर्मगुरु है। यह सारी जमीन उसी की है। नया सूरज उग रहा है। जंगल और पहाड़ आलोकित हो रहा है। तुम्हारे 'उलगुलान' ने हमें लड़ने की प्रेरणा दी है। 'उलगुलान' मुण्डारी भाषा का लोकप्रिय शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति और प्रभाव को ऐतिहासिक लोकप्रियता मिली है। जैसे ही यह शब्द झारखण्डी समाज के सामने आता है। सबके मानस में अनायास बिरसा मुण्डा का राजनीतिक चिन्तन और संघर्ष कौंध उठता है। जनजातीय समाज के लिए एवं शोषण मुक्त व्यवस्था के लिए जन-जन को प्रेरित करने लगता है। हजारों कुर्बानियाँ, दीपमाला की तरह झारखण्डी जनजातीय समाज की चेतना और चिन्तन को स्वतन्त्रता एवं समानता के लिए लिये गए शपथ की याद दिलाने लगता है।

आचार्य बिनोवा भावे ने अपनी पुस्तक 'आरण्यक सन्तान' में लिखा है 'जनजातीय समाज की मातृभाषा उसकी मातृसत्ता की सहचरी है। यह शरीर की धमनियों की तरह उसकी सामाजिक और आर्थिक क्रियाओं में अन्तर्निहित है जो इसकी जीविका और दिनचर्या को पीढ़ियों से रेखांकित करती आ रही है।' उदाहरण के लिए, मुण्डा आदिवासियों की लोक गाथा 'सौसेबोगा' लगभग 600 ई.पू. के आस-पास की रचना है। इस गाथा में अन्धाधुन्ध उत्पादन को धरती के ताप के बढ़ने का कारण माना गया है, और साथ-ही-साथ इसकी जैव-विविधता पर होने वाले खतरों की जो चिन्ता व्यक्त की गई है, उससे ऐसा लगता है कि यह आज कि वैश्विक दुनिया की रचना है। जिसमें 'ग्लोबल वार्मिंग' जैसी समस्या की चिन्ता की गई है। उक्त मुण्डारी गीत का हिन्दी अनुवाद निम्न रूप में रखा जा रहा है—

हमारी पृथ्वी गर्म हो गई है।  
आकाश में कुहासा छा गया है।  
हमारा देश बहता जा रहा है।  
लाल हो उठी हैं दिशाएँ,  
हिल चुका है धरती का आवरण<sup>13</sup>।

अर्थात् जनजातीय समाज की बहुलवादी जीवन-संस्कृति एवं इसकी साझा विरासत के आधार पर ये पहाड़-पर्वत-नदियाँ, झरने अपना अस्तित्व खो रहे हैं। देश-दुनिया एवं झारखण्ड के पर्यावरणविदों ने घटा और गगन के लूटते एवं बिखरते संसाधनों को बचाने के लिए सत्ता एवं प्रशासन की कुम्भकर्णी नींद को तोड़ने के लिए लाल एवं पीले रपटों की भरमार कर दी है। क्रशरों की चीखती आवाज से पर्यावरण सन्तुलन पर खतरा पैदा हो गया है। भू-गर्भशास्त्रियों की तमाम सूचनाएँ नक्काशखाने में तूती की आवाज बन गई हैं। वैज्ञानिक परेशान हैं, साहित्यकार उदास हो चुके हैं। देश और झारखण्ड के मानचित्र पर कंक्रीट के ढाँचे का भ्रमजाल जरूर बनकर तैयार है। लेकिन माटी और झोपड़ी से जुड़ा आम आदमी करोड़ों की तादाद में दो जून की रोटी के लिए हर रोज चूल्हे के धुएँ से संघर्ष कर रहा है। इनके घर और बाहर चारो तरफ विस्थापन की त्रासदी मुँह बाए खड़ी है।

इन्हीं त्रासदियों की चर्चा करते हुए गहन अध्येता और सक्रिय जनवादी लेखक हेराल सैमसन तोपनी ने अपनी पुस्तक 'उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष' में भारतीय सत्ता के औपनिवेशिक चरित्र की 'सांस्कृतिक नरसंहार' के साजिशों को उजागर किया है। इन्होंने 'जंगल गाथा' के नाम से प्रभात खबर में प्रकाशित अपने कॉलम में आदिवासी समाज के साथ भारतीय समाज और सत्ता के व्यवहार, आदिवासी समाज की सांस्कृतिक विशिष्टता एवं आदिवासी शिक्षा पर बेबाकी से अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। कभी प्रथम प्रधानमंत्री पं. नेहरू के औद्योगिक नीति के आधार पर झारखण्ड के आदिवासी क्षेत्र में बड़े बाँध एवं उद्योग कारखानों को भारत के विकास का मन्दिर कहा गया था, जिसे आदिवासी नेता जयपाल सिंह मुण्डा ने आदिवासियों के लिए विनाश का साया कहा था। आज जयपाल की चिन्ता आजादी के बाद के दशकों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने लगी है। आज सैमसन तोपनी की पीढ़ी इसकी दुर्दशा की साक्षी है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण झारखण्ड का जनजातीय समाज आज विस्थापन की पीड़ा झेल रहा है, जिसकी चर्चा एवं दस्तावेजीकरण स्वयं सैमसन ने अपने हाथों से किया है। सम्पूर्ण झारखण्ड में विकास बनाम विस्थापन की आग में सैकड़ों जनान्दोलनों को नक्सलवाद के नाम पर कुचला जा रहा है।

अतः आदिवासी समाज की जमीनी लड़ाई को उसके अन्दर से पैदा होने वाली बौद्धिकता के द्वारा ही निर्णायक बिन्दु तक पहुँचाया जा सकता है। झारखण्ड आन्दोलन की सांस्कृतिक उपलब्धियों ने झारखण्ड की जमीन पर बौद्धिकों की एक देशज संस्कृति को जन्म दिया है। हैरोल्ड सैमसन इसी बौद्धिकी के प्रतीक हैं। झारखण्ड आन्दोलन को जो केवल राजनीतिक आन्दोलन समझते हैं यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। आज झारखण्ड की जमीन पर इसी आन्दोलन ने न सिर्फ आदिवासियता की दार्शनिक भावभूमि को पुष्ट किया है, बल्कि उसकी विरासत में एक ऐसी साझी संस्कृति के लिए जमीन तैयार किया है, जिसने सदियों से सहजीविता की सांस्कृतिक

विरासत को सहेज कर रखा है। इसमें आदिवासी और सदानी मूल्यों की ऐसी गहरी भागीदारी है, जिसे एक-दूसरे से अलग कर नहीं समझा जा सकता है।

निष्कर्ष : अतः आधुनिक समाज और इसका साहित्य एवं संविधान वंचित समुदाय के संघर्षों की ठोस अभिव्यक्ति का आधार जब तक प्रदान नहीं करेगा। बहुसंख्यकों की अस्मिता के लिए आगे नहीं आएगा तो यह वर्तमान पीढ़ी की ऐतिहासिक भूल होगी। सत्य है कि वंचित समुदाय का संघर्ष उसकी अपनी अस्मिता के आधार पर है। अतः इस अस्मितावादी स्वर को नकारने के बजाय भारतीय अभिजनवादी सामज की संरचना को खुले मन से अपने घर-आँगन की सारी वर्जनाओं को तोड़कर उसे स्वीकार एवं स्वागत करना चाहिए। देश के समग्र भाषा-साहित्य में स्त्री और दलित-विमर्श के साथ आदिवासी की अस्मिता एवं पहचान को आवरण पृष्ठ प्रदान करना ही यथार्थ को स्वीकारना है।

हमारा देश बहुलवादी विविध समाज एवं संस्कृति का झरना है। यहाँ सैकड़ों भाषाएँ हैं, जिसमें बहुलवादी संस्कृति एवं ज्ञान का अस्तित्व है। हमारा राष्ट्रफलक देशज अनुभूतियों को अंगीकार कर जनजातीय भाषा और साहित्य की विधाओं को अपना आईना बनाए तो देश लोकतान्त्रिक समाज की सुदृढ़ स्थापना कर सकेगा और एक परदर्शी राजनीतिक व्यवस्था उभरकर सामने कायम होगी। लेकिन ऐसा प्रयास देखने को नहीं मिल रहा है। बाजारवादी संस्कृति सिर्फ औपनिवेशिक भाषाओं में देश-दुनिया की विकास की उपलब्धि का डंका पीट रही है। जनजातीय समाज की भाषा-साहित्य में पग-पग पर गणतान्त्रिक मूल्यों के मोती बिखरे पड़े हैं, लेकिन इसका महत्त्व बिलकुल आँका नहीं जा रहा है। जब उपभोक्तावादी केकड़ा हंस की गर्दन पर कुण्डली मारकर बैठ जाए तो नीर-क्षीर का विवेक मुश्किल है। झारखण्डी जनजातीय साहित्य आज दीमक और मिट्टी के जलजात में डूब रहा है। अभिजनवादी एवं उपभोक्तावादी छापेखाने में दोगले दर्जे के दीवार पर इनकी बोलियाँ शब्द बनने की प्रतीक्षा में टँगी हैं।

निःसन्देह देश के प्रगतिवादी लेखकों ने जनवादी साहित्य की रचना कर इनकी विशिष्ट चेतना और चिन्तन को राष्ट्र की मुख्यधारा में समायोजित किया है। आज पूरे देश में जनजातीय साहित्य अपने विचार की अभिव्यक्ति के लिए किसी सहारे की मोहताज नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल, नार्गानुन, मुक्तिबोध से लेकर निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन, जसिता करकेटा, वासवी कीरो, महुआ माँझी, बिटिया मुर्मु ने अपने साहित्य से एवं भाषा अभिव्यक्ति से सृजनशील राजनीतिक चिन्तन एवं समाज के समकालीन जीवन्त प्रश्नों को आवाज दिया है<sup>14</sup>। निःसन्देह निर्मला पुतुल की यह कविता ऐसे तथ्यों की ओर संकेत करती है :

*सिदो मैं पीटती हूँ,  
नगाड़ा को, इसकी आवाज सुन,*

तुम आओगे कहीं न कहीं से,  
 देखो न पड़ा है नगाड़ा किनारे उदास,  
 और भाई सब, हँडिया पीकर कैसे मुरझाए हैं यहाँ-वहाँ।  
 फादर टोपनी की सुनो : वे तुम्हारे आन्दोलन को बता रहे हैं,  
 महाजनों और जमीनदारों की लड़ाई,  
 इनसे कैसे शुरू करें लड़ाई?  
 अब जब की गुलदस्ते की जगह सम्मेलनों में  
 हमारे टेबुल पर बिसलरी की बोटलें सजती हैं,  
 न चाहते हुए भी पानी पी-पी कर बोलना पड़ता है,  
 अपने इलाके के सूखे की समस्या पर।  
 उन्हीं की संगत ने हमारी भाषा बिगाड़ दी है।  
 और प्यास बुझाने के लिए,  
 पेप्सी और स्पाईट का चस्का लगा दिया है।  
 वे सारे लोग जो हम में देशज संस्कृति तलाशते हैं,  
 झारखण्डी अस्मिता पर बुलवाते हैं,  
 और जल जंगल जमीन के मुद्दे पर,  
 हमारी राय चाहते हैं,  
 वही लोग बिसलरी की बोटलें बढ़ाते हैं,  
 बोलते-बोलते जब प्यास लगती है सभा में।

कविता की इन पंक्तियों में कवयित्री ने जनजातीय समाज में धँसी उन प्रवृत्तियों की चर्चा की है, जो आज इस समाज की मौलिकता और देशज जीवन-शैली को विकृत किया है। सच्चाई यह है कि समाज अपनी सांस्कृतिक चेतना में उन विकृतियों से आहत हो उठा है, जिसके कारण इसकी दुर्गति हो रही है और जिन मूल्यों और जिन प्रश्नों के लिए जो संघर्ष चला, उसके मूल पर ही संकट खड़ा हो गया है। जब तक इन धँसी विकृतियों एवं आधुनिकता के आवरण में इन विकृत जीवन-शैलियों से हमारा समाज बाहर नहीं आता है, तब तक इस आन्दोलन और संघर्ष का मकसद पूरा नहीं हो सकता है। यही कारण है कि जनजातीय समाज के बीच से निकलनेवाली नई बौद्धिकता इन प्रश्नों के समाधान के लिए नए-नए सांस्कृतिक आन्दोलनों की पैरोकारी कर रही है और साहित्य ऐसे खोजी जीवन-मूल्यों के प्रति सावधान होकर जनजातीय समाज की सृजना के लिए सुदृढ़ आधार तैयार कर रहा है, जिसकी आज सबसे ज्यादा जरूरत है।

अतः आज का प्रगतिवादी साहित्य एक खास प्रवृत्ति या संकुचित साँचे से बाहर निकल रहा है। आज दलित स्त्री एवं आदिवासी स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात समाज के बौद्धिक क्षितिज पर मजबूती से रख रहे हैं। इनके पास अब अपनी समझ

एवं वैचारिक-दार्शनिक भाव-भूमि की विरासत है<sup>15</sup>। हर दिशा से उठने वाले इस स्वर को सर्वव्यापकता मिले, ऐसा प्रयास स्तुत्य है। जनजातीय का आंचलिक एवं वाचिक साहित्य की अन्तर्दृष्टि में राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय एकता एवं राजनीतिक चिन्तन की धारा बहती रहे, यही वर्तमान और भविष्य की वाहिका बने।

#### सन्दर्भ स्रोत

1. प्रसाद, डॉ. बेनी, द स्टेट इन एनशियण्ट इण्डिया, पृ. 269।
2. डाम-डाम पूची, संताली पुस्तक : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ. 14।
3. लॉड, टिन माऊथ, ऐशियाटिक रिसर्च 1795, स्मारिका (हिजला मेला समिति, दुमका 1988)
4. समीर, डॉ. डोमन साहू, संताल जनजाति और उसकी संस्कृति, पृ. 20-21 स्मारिका (हिजला मेला समिति, दुमका 1991)
5. मुर्मु, श्रीमती सुशान्तो, शोध प्रज्ञा, 'संताल साहित्य में चेतना और चिन्तन', 'के. के. एम. कॉलेज, पाकुड़, शिक्षा संकाय, सि. का. मुर्मु वि. वि. दुमका।
6. सम्पादकीय, नया ज्ञानोदय, आदिवासी विमर्श, कुछ बातें, जनवरी 2016 पृ. 5। भारतीय ज्ञानपीठ साहित्यिक पत्रिका,
7. कुमारी, डॉ. प्रभा, संताल जनजाति का मौखिक ऐतिहासिक तथ्य, आलेख राष्ट्रीय सेमिनार, प्राध्यापक, तिलका माँझी, 27-28 मार्च, 2012, सि. का. मुर्मु वि. वि. दुमका। वि. वि. भागलपुर, बिहार
8. लुगुन, डॉ. अनुज, प्रतिरोध के स्वरों का समायोजन, सम्पादकीय प्रभारत खबर, 1. 4.16, प्रध्यापक, केन्द्रीय वि. वि. बिहार, गया।
9. पुतुल, निर्मला, बिटिया मुर्मु की तीन कविताएँ, नारी संवाद, मार्च 2008, पृ. 15। संताली से हिन्दी में अनुवाद
10. अभियान जनवादी पत्रिका, बिरसा उलगुलान के दूरंग। (आवरण पृष्ठ पिछला) सम्पादक घनश्याम, 6 अप्रैल-जून 2000
11. पुतुल, निर्मला, संताली से हिन्दी अनुवाद। (बिटिया मुर्मु की तीन कविताएँ), नारी संवाद पृ. 15, 2008
12. झा, डॉ. युगल, नया ज्ञानोदय, जनवरी 2016, परती पटकथा का यक्ष प्रश्न, पृ. 15-17
13. लुगुन, डॉ. अनुज, आदिवासी अस्मिता का सवाल, सम्पादकीय प्रभात खबर 18.3. 16 प्रध्यापक केन्द्रीय विद्यालय, गया, बिहार।
14. प्रियदर्शन, आजकल, सभ्यता का पुनर्पाठ करती स्त्री' कविता, मार्च 2016, साहित्य और संस्कृति की पत्रिका।
15. लुगुन, डॉ. अनुज, जंगल की दार्शनिक भावभूमि, प्रभात खबर, 29.4.16



## स्वामी विवेकानन्द और दलित समाज

प्रो. किशोरी लाल व्यास\*

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में देश में दलित-चेतना के सबसे प्रबल उद्भावकों में थे और उन्होंने अपने दलित-दर्शन से स्वतन्त्र भारत की दलित-नीति की आधारशिला रख दी थी। स्वामी विवेकानन्द अपने विचारों में अत्यन्त आधुनिक थे और धर्म, आध्यात्मिकता पूर्व-पश्चिम मिलन, ज्ञान-विज्ञान आदि के समान ही दलित समाज की भी जड़ और पाखण्डी पुरातनता से मुक्त कर नया रूप देने के लिए पूरे राष्ट्र को ललकार रहे थे। उनके दलित-दर्शन को समग्रता में देखने पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि उस काल-खण्ड में स्वामी विवेकानन्द जैसा कोई दूसरा दलित-उद्धारक तथा दलितों का मसीहा नहीं हुआ। स्वामी विवेकानन्द जैसे जाति-भेद को तोड़ने एवं मनुष्य मात्र की समानता का संस्कार ही लेकर पैदा हुए थे। नरेन्द्र (बाद में स्वामी विवेकानन्द) छह-सात वर्ष के ही थे कि एक दिन पिता की अनुपस्थिति में उनके बैठकखाने में जाकर वह भिन्न-भिन्न जाति के मुक्कियों के हुक्कों में मुँह लगाकर कश खिंच रहे थे कि पिता आ पहुँचे और पूछा कि यह क्या कर रहे हो तो बालक नरेन्द्र ने उत्तर दिया, “देख रहा हूँ कि जाति नहीं मानने पर क्या होता है?” पुत्र की अद्भुत खोजपरकता तथा विकट समस्या का आश्चर्यजनक समाधान-कौशल देखकर पिता जोरों से हँसे और बोले, “बड़े दुष्ट हो रे।” इसके उपरान्त स्वामी विवेकानन्द के जीवन में जाति और धर्म के भेदभाव के विरुद्ध अनेक घटनाएँ घटित होती हैं, जिनसे उनका धार्मिक भेदभाव और अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यक्तित्व पूर्णतः स्पष्ट दिखाई देता है। वे खान-पान में अस्पृश्यता के भी विरुद्ध थे और वे स्वयं मांसाहारी थे और तम्बाकू पीते थे। “उनके गुरु स्वामी परमहंस ने एक बार नरेन्द्र के जूठे तम्बाकू को पीकर अस्पृश्यता के पाखण्ड का पर्दाफाश किया था और अभेद की शिक्षा दी थी।” स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-भ्रमण पर एक मुसलमान ने खीरा खिलाकर उनकी प्राण-रक्षा की थी और बाबू में एक मुसलमान के यहाँ जब वे रहे तो उन्होंने खेतड़ी नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी मुंशी जगमोहनलाल से कहा था, “मैं संन्यासी हूँ। मैं आप लोगों के सारे सामाजिक विधि-निषेधों से परे हूँ। मैं भंगी (मेहतर) के साथ

\* प्रो. किशोरीलाल व्यास, पूर्व अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

भी भोजन कर सकता हूँ। इससे भगवान के अप्रसन्न होने का भय मुझे नहीं है, क्योंकि यह भगवान द्वारा अनुमोदित है। शास्त्रों से भी मुझे भय नहीं है, क्योंकि यह शास्त्र द्वारा भी अनुमोदित है। फिर भी आप लोगों को और आप लोगों के समाज का भय मुझे अवश्य है। आप लोग तो भगवान और शास्त्र की भी परवाह करते हैं। मैं तो देखता हूँ कि विश्व-प्रपंच में सर्वत्र ब्रह्म प्रकाशित है। मेरी दृष्टि में ऊँच-नीच नहीं है। शिव, शिव!” और केवल शिवोहं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक ही चेतना सर्वव्याप्त है।

उन्होंने खेतड़ी राज्य के किसी रेलवे स्टेशन पर एक ‘दीन-हीन’ चमार के हाथ का बना भोजन ग्रहण किया। वे वहाँ तीन दिन तक धर्म-चर्चा करते रहे और किसी ने उनसे भोजन के लिए नहीं पूछा। इस पर इस ‘दीन-हीन’ चमार ने डरते-डरते उन्हें भोजन कराया। विवेकानन्द ने उस भोजन से देवराज इन्द्र द्वारा स्वर्ण पात्र में अमृत देने की दृष्टि से भी अधिक तृप्ति का अनुभव किया और आँखों में आँसू आ गए और सोचने लगे कि “ऐसे हजारों उच्च चेतना सम्पन्न व्यक्ति पर्णकुटियों में निवास करते हैं, किन्तु हमारी नजरों में वे बराबर घृणा और हीन रहे हैं। कुछ उच्च जाति के लोगों के आपत्ति करने पर विवेकानन्द ने उस चमार की मनुष्यता की प्रशंसा और आपत्ति करने वालों की नीचता की निन्दा की।” देश की वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के दोषों के लिए उन्होंने धर्म का सम्बन्ध केवल आत्मा से है और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना उनका प्रयोजन नहीं है।” संसार के इस महत्तम हिन्दू धर्म को कुचल दिया जाए, परन्तु दोष धर्म का नहीं है, क्योंकि हिन्दू धर्म तो तुम्हें सिखाता है कि “प्रत्येक प्राणी स्वयं तुम्हारी आत्मा का ही नाना रूपों में विकास है। दोष यह है कि हमने इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप नहीं दिया तथा सहानुभूति एवं हृदय का उपयोग नहीं किया। इस स्थिति को हम धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान उपदेशों के अनुसार आचरण करके तथा उसके साथ बौद्ध धर्म की ‘अद्भुत सहानुभूति’ को संयुक्त करके ही दूर कर सकते हैं।” “स्वामी विवेकानन्द क्रूर आघातों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं, “पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान इतने ऊँचे स्वर से मानवात्मा की महिमा की घोषणा करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीची जाति वालों का गला इतनी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का दोष नहीं, वरन् दोष उनका है, जो हिन्दू धर्म के अन्तर्भुक्त होते हुए भी ढोंगी और दम्भी हैं, जो ‘परमार्थिक’ और ‘व्यावहारिक’ सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते रहे हैं।” स्वामी विवेकानन्द का वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी यही विचार है कि “वर्ण-व्यवस्था ने हमें हिन्दू राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।” “धर्म में जाति-भेद नहीं है तथा ‘जाति’ एक सामाजिक संस्था मात्र है।” “भारतीय समाज का आधार जाति नियम है।” “‘आर्य सभ्यता’ का साधन है विभिन्न वर्ण-विभाग। भिन्न-भिन्न वर्णों में विभाजित करने का यह तरीका सभ्यता की सीढ़ी है, जिसके स्तर व्यक्ति अपनी-अपनी विद्वता और संस्कृति के अनुसार उच्च-से-उच्चतर बन सकता है”

तथा 'जाति' "एक सामाजिक नियम एक सामाजिक रूढ़ि है और गुण-कर्म-भेद ही इसका आधार है।" विवेकानन्द जी ने कहा था कि "ब्राह्मणों ने धर्म-शास्त्रों पर एकाधिकार जमाकर विधि-निषेधों को अपने ही हाथ में रखा था और भारत की दूसरी जातियों को नीच कहकर उसके मन में विश्वास जमा दिया था कि वे वास्तव में नीच हैं। यदि किसी व्यक्ति को खाते, सोते, उठते, बैठते हर समय कोई कहता रहे कि 'तू नीच है' तो कुछ समय पश्चात् उसकी यही धारणा हो जाती है कि—मैं वास्तव में नीच हूँ।" सवर्णों ने आडम्बरोँ द्वारा उच्च कुल के लोगों को साधे रखा और निम्न कुलवालों को निकट नहीं आने दिया। उन्हें पशुओं से भी हीन समझा।

ब्राह्मण के विशेषाधिकार एवं प्रभुता तथा श्रेष्ठता के अहंकार के कारण ही हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता एवं छुआछूत का भयंकर रोग उत्पन्न हुआ। विवेकानन्द का मत था कि "अस्पृश्यता सनातनी हिन्दू समाज का एक 'अन्धविश्वास' तथा 'कुसंस्कार' है और हम अपने-आपको 'मत छुओवाद' में सम्मिलित नहीं करना चाहते। यह हिन्दू धर्म नहीं है तथा वह हमारे किसी धर्म ग्रन्थ में नहीं है और इससे हमारी राष्ट्रीय क्षमता एवं योग्यता को बड़ी हानि पहुँची है।

हिन्दुओं का बड़े पैमाने पर धर्मान्तरण इसी कारण हुआ, जो दलित हिन्दू रहकर जमींदार के पैरों के पास बैठता है, चप्पल नहीं पहनता, वही दलित मुसलमान बनकर जमींदार के बराबर बैठता है। ईसाई बनकर शिक्षित होता है। स्वास्थ्य और स्वच्छता का पाठ सीखता है, और हिन्दुओं के बराबर का दर्जा पाता है। तब धर्म को लेकर वह चाटेगा, जूते खाएगा, भूखा मरेगा, दरिद्र रहेगा या ईसाई बनकर अपना जीवन सुधारेगा। धर्मान्तरण हिन्दुओं की मूर्खता के कारण बढ़ा।

वे ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि "ये हजारों ब्राह्मण भारतवर्ष के नीच पददलित जनसाधारण के लिए क्या कर रहे हैं? उनके ओठों पर केवल 'छुओ मत' वाक्य खेल रहा है। हमारा सनातन धर्म उनके हाथों कितना नीच और पतित बन गया है। हमारा धर्म अब कहाँ है? केवल 'मत छुओवाद' में अन्यत्र कहीं नहीं।" हिन्दुओं का वर्तमान धर्म, वेद, पुराण, भक्ति और मुक्ति में न होकर केवल रसोई घर के बरतनों में घुसा हुआ है। और ज्ञान-मार्ग एवं बुद्धि-मार्ग सब 'मत छुओवाद' में बदल गया है। जो धर्म दूसरों के केवल श्वास तथा स्पर्श से ही अपवित्र हो जाए, वह दूसरों को पवित्र कैसा बनाएगा? अतः विवेकानन्द छुआछूत पन्थियों के मुँह पर झाड़ू मारने का आह्वान करते हुए कहते हैं। "देश में केवल छुआछूत पन्थियों का दल रह गया है। ऐसे आचार के मुँह पर झाड़ू मारने की इच्छा होती है। इस विज्ञान के युग में अस्पृश्य भाव अपराध है। विवेकानन्द ने लिखा है—

—तेरे छुआछूत के पन्थ की सीमा तोड़कर अभी चला जाऊँ

—जहाँ कहीं भी पतित, गरीब, हीन, दरिद्र हों, 'आ जाओ'/गले लगाऊँ।

"यह कह-कहकर, उन सभी को श्रीरामकृष्ण के नाम पर बुला लाऊँ/इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी।" मैं दिव्य-दृष्टि से देख रहा हूँ, उनके और मेरे भीतर

एक ही ब्रह्म, एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है।” आओ, हम अस्पृश्यों को गले लगाएँ, उनका भी उत्कर्ष करें।

“उच्च वर्ण के लोग सजीव नहीं हैं, अतः वे स्वयं को आर्यों की सन्तान होने के अन्धकार तथा प्राचीन भारत के गौरव का अभिमान करने की निरर्थक एवं निष्प्राण बातों को मानते हैं। उच्च वर्ण के लोगों का क्या यही काम है कि वे निम्न जाति के लोगों की मनुष्यता नष्ट कर दें, उन्हें भिखारी बना दें, उन्हें सदैव के लिए दास अथवा हिंस्र पशु बना दें तथा उनमें मनुष्य होने के भाव ही खत्म कर दें।

उच्च वर्ण के लोग दलितों के श्रम से ही उच्च तथा धनवान बने हैं। उनकी खेती कौन करता है? पानी कौन भरता है? कपड़े-बर्तन कौन साफ करता है? दूध कौन निचोड़ता है? ये सारे काम शूद्र लोग मुफ्त या बेगार में करते हैं। शूद्रों को जूठन और फटे कपड़े दे दिए जाते हैं, जिससे वे जीवित रह सकें। उस अनीति के धन से जमींदार मजे करते हैं।

“उच्च वर्ण के ऐसे शिक्षित लोगों को ‘घृणा के पात्र’ कहते हैं जो निर्धनों एवं दलितों के खर्च पर शिक्षित हुए हैं अथवा गरीबों को कुचलकर धनी बने हैं और फिर भी देश के बीस करोड़ निवासियों को भूखा और असभ्य बना रहने देते हैं।” मानव जाति के एक वर्ग का इतना शोषण सदियों से किसी देश में सम्भवतः नहीं हुआ होगा।

उच्च वर्ण के मानसिक परिवर्तन के बिना नवभारत की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि नए भारत का उदय तो किसान, मछुआरे, मोची, मेहतर, छोटे व्यापारी, श्रमिक आदि के हाथों से ही होगा। वे उच्च वर्ण के लोगों से इसी कारण कहते हैं “तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान में नवभारत का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटिया से हो। बनिए की दुकान से, मछुए, मोचियों और मेहतारों की झोपड़ियों से हो। रोटी बेचने वाले की भट्ठी के पास से हो, कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह ‘नवभारत’ अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो। ये साधारण दलित लोग सहस्रों वर्षों से अत्याचार सहते आए हैं और आश्चर्यजनक धैर्यशक्ति प्राप्त कर ली हैं। इनमें श्रम से, इनकी निष्ठा से, इनके त्याग से ही देश की अर्थव्यवस्था चलती है।

वे सतत विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविरल जीवनशक्ति प्राप्त हो गई है। मुट्ठी-भर अन्न से पेट भरकर वे संसार को कँपा सकते हैं, उनको तुम केवल आधी रोटी दे दो और देखोगे कि सारे संसार का सिस्टम उनकी शक्ति के समावेश के लिए पर्याप्त न होगा। उनमें ‘रक्तबीज’ की अक्षय जीवन-शक्ति भरी है। इसके अतिरिक्त, पवित्र और नीतियुक्त जीवन से आने वाला वह आश्चर्यजनक बल है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसी शान्ति, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम और चुपचाप सतत कार्य करने की ऐसी शक्ति और कार्य के समय इस प्रकार सिंह-बल प्रकट करना यह सब तुम्हें अन्यत्र कहाँ मिलेगा? फिर भी वे पाठपण्डियों द्वारा छले जाते हैं। यह दुःख की बात है।

विवेकानन्द दलितों की संख्या एवं शक्ति से परिचित थे। वे मानते थे कि जब तक दलित श्रम-शक्ति उठ खड़ी नहीं होगी, देश के विकास में भाग नहीं लेगी, तब

तक देश पिछड़ा ही रहेगा। ये दलित ही हमारी कर्मठ सीमा है। हमारी सेना में 'महार रेजिमेण्ट' ने वीरता के अनेक कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

शिवाजी महाराज की सेना में अनेक दलित थे, जिन्होंने हिन्दू धर्म को अपने रक्त से सींचा। उसकी रक्षा की।

हमारे देश में नीच जाति में जन्म लेने का अर्थ है कि वह मानो सदा के लिए नष्ट हो गया। यह कैसा अत्याचार है? देश के इन गरीब दलितों का कोई विचार नहीं करता। वे ही तो देश के मेरुदण्ड हैं जो अपने परिश्रम से अन्न उत्पन्न करते हैं। ये मजदूर यदि एक दिन काम बन्द कर दें, तो शहर-भर में घबराहट फैल जाए। उनके साथ सहानुभूति रखने वाला कौन है? इस देश में दस-बीस लाख साधू और दस एक करोड़ ब्राह्मण इन गरीबों का रक्त चूसते हैं, पर उनके सुधार का रस्ती-भर भी प्रयास नहीं करते, यह कोई देश है या नरक? वह धर्म है या शैतान का नग्न नृत्य? वास्तव में देश के नीच, अज्ञानी, दरिद्र, दलित सभी उच्च वर्णीय समाज के भाई हैं और सभी का एक रक्त एक ही है। किसी साधु, पंडे, पुजारी, लुटेरे, ज्योतिष आदि डाकू बनकर इन मेहनतकशों की ईमानदारी की कमाई को लूटते आए हैं, और लूट रहे हैं।

नीच जाति का धर्मान्तरण रोकना होगा, उनके खोए मनुष्यत्व को जागृत करना होगा तथा हम सभी को 'मनुष्य' बनना होगा। हमें ऐसे धर्म, सिद्धान्त तथा शिक्षा की आवश्यकता है जो हमें मनुष्य बना सके। हमें जो भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाए वह हलाहल विष के समान त्याज्य है। मनुष्य केवल मनुष्य-भर रहना चाहिए। शेष सब कुछ अपने-आप हो जाएगा।" विवेकानन्द ने कुटिल, स्वार्थी, आचार-बद्ध, नीच ब्राह्मणों की बहुत भर्त्सना की जो समाज को शास्त्रों, पूजा-पाठों के नाम पर लूटते हैं और भ्रमित करते हैं।

"विवेकानन्द को ब्राह्मणों ने इन विचारों के कारण एवं कार्यों के कारण 'शूद्र' कहा तो वे इससे दुःखी नहीं हुए और इसमें उन्होंने गरीबों पर अपने पूर्वजों द्वारा किए अत्याचारों का प्रतिकार माना। उन्हें निम्न जातियों की शक्ति और क्षमता पर अटूट विश्वास था। वे इस साधारण जनता को जागृत देवता कहते थे और इस विरत जनसमूह की पूजा करने का उद्बोधन करते थे।

आज हमारे समाज में 30% से अधिक लोग दलित हैं। खेल-कूद में, पठन-पाठन में, कर्मठता में ये आगे हैं। इन्हें अवसर मिले बस ये सवर्णों से आगे बढ़ जाएंगे, क्योंकि इनके 'जीन' में शारीरिक और मानसिक संघर्षों का अमित भण्डार है। हर परिस्थिति को वे अनुकूल बनाकर जी सकते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्हें समाज में बराबरी का स्थान संस्कार एवं आचरण द्वारा दिलाया। दुःख की बात है कि ऋषि दयानन्द की यह परम्परा क्षीण होती गई। सरकार ने जातियों को और अधिक विभाजित कर दिया। देश आज दारुण विभाजन से गुजर रहा है।

संदर्भ

1. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, खंड 1, पृ. 38

चिन्तन-सृजन, वर्ष-14, अंक-4

## समकालीन जीवन-संघर्ष की यात्रा

प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय डी. लिट्\*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' में लिखा है कि समय जैसे-जैसे बीतता है, जीवन-संघर्ष वैसे ही बढ़ता जाता है। इस जटिलता, विषमता, उलझन, विद्रूपता के विषम जाल में जीवन सत्य का उद्घाटन कठिन कर्म होता है। वह एक योगी कर सकता है, तो दूसरा कवि देवेन्द्र आर्य। सच पूछिए तो आज का सबसे बड़ा संकट है मूल्यक्षरण, मानवता की हत्या, नीति, धर्म की पग-पग पर पराजय जिसे विकास और प्रगति का मानदण्ड माना जाता है वह कहीं मरूकान्तार में खो गया है। ऐसे विषम परिवेश में कवि आस्था, विश्वास, मानवीय गुण की पग-पग पर वकालत ही नहीं करता, उसे हृदय संवेद्य और सम्प्रेषणीय बनाकर प्रस्तुत करता है। पहले दुर्दशा, अव्यवस्था, मूल्यहीनता, दानवता का चित्र देखा जाए—

चम्बल संसद एक से, एक नियम कानून।  
वेश बदलकर पी रहे, ये जन-जन का खून॥

(दोहा 204 पृ. 42)

दावत पर बैठे रहे, भूख ओढ़ माँ-बाप।  
संवेदन रिश्ते हुए, यूँ जनमों के पाप॥

(दोहा 164, पृ. 36)

अज्ञेय ने लिखा है कि दुःख सताता है, पीड़ा पहुँचाता है, तो माँजता भी है। नई दृष्टि देता है। कवि यहाँ यही भाव व्यक्त करता है—

\* इन्द्रधनुष के रंग, कवि डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रथम संस्करण 2016, साहित्य सहकार प्रकाशन, 26/92 गली नं. 11, विश्वास नगर दिल्ली-110032 डिमाई पृष्ठ 112, मूल्य दो सौ रुपये मात्र (सजिल्द)

\*\* वृन्दावन, राजेन्द्रपथ, धनबाद 826001 झारखण्ड, मो. 9334088307

दुख साथी, दुख मित्र है, करता मन को धन्य।  
संकल्पों-संघर्ष में, भरता नव चैतन्य॥

(दोहा 160, पृ. 35)

कवि को यह सन्तोष भी है कि दुःख की काली रात बीतेगी तो सुख का प्रभात भी होगा। सारा गाँव दुःख-दर्द को सहते-सहते इतना व्याकुल, विकल हो गया है कि उसे अब काँधे पर सूर्य धारण कर निकलना पड़ता है—

तम भी जब बढ़ने लगा, धर आपद् के पाँव।  
काँधे धर-धर सूर्य को, निकला सारा गाँव॥

(दोहा 167, पृ. 36)

परन्तु कवि को यह चिन्ता बराबर सताती है कि अन्याय, अत्याचार, दुराचार की तो होलिका जल गई, उससे मिल गया त्राण फिर लोग कन्धे पर कलुष, मैल, व्यभिचार लादे नाच क्यों रहे हैं—

जली होलिका तो लगा, जला पाप का रोग।  
पर काँधे धर कलुष को, नाच रहे हैं लोग॥

(दोहा 168, पृ. 36)

कवि को आज के प्रजातन्त्र से इतनी निराशा, हताशा है, उसके प्रति इतना आक्रोश है कि उसे वह बार-बार व्यक्त करके भी राहत महसूस नहीं करता। उसके लिए अश्लील, गाली के शब्दों से भी परहेज नहीं करता—

राजनीति बिन नीति के, कुलटा निट लवार।  
जैसे बिगड़ी कुककरी, सूँघे घर-घर द्वार॥

(दोहा 522, पृ. 87)

इतना ही नहीं कवि उसे वेश्या और गिरगिट के समान रंग बदलने वाली मानता है—

राजनीति वेश्या हुई, नहीं वफा के संग।  
दुश्मन कल अब मित्र हैं, सब गिरगिट के रंग॥

(दोहा 131, पृ. 31)

आज आतंकवाद का विषम जाल फैला है। जैसे, बड़ी मछली का आहार होता है छोटी मछली, वैसे ही बड़े शक्तिशाली अपने वर्चस्व के लिए दूसरे को तबाह करते रहते हैं। आग्नेयास्त्र, प्रक्षेपास्त्र से करोड़ों बर्बाद करते हैं, पर दूसरे का विनाश उनका लक्ष्य है। कवि इससे कितना आहत, बेचैन है—

रोज धमाके गोलियाँ, रोज-रोज आतंक ।  
बोलो जग कब तक सहे, यह दहशत का डंक??

(दोहा 367, पृ. 65)

कवि समकालीन जीवन के सच, उसके विद्रूप कारनामे, तोड़-फोड़, सामूहिक हत्या, नारी-शोषण आदि से पीड़ित है ही पर उसके मध्य दया, करुणा, मानवता, प्रकृति सहयोग, त्याग के दामन को कभी नहीं त्यागता । उसके भीतर से कविता सद्यः प्रस्फुटित होती है सूर्य की तरह, जो क्षणों में वन, तृण, दरियाओं, समुद्रों पर फैल जाती है । हृदय में अग्नि लिए, ब्रह्माण्ड से बातें करती किरणों के संग रहती है निरन्तर चलायमान । ऐसी काव्य पंक्तियाँ कई हैं, जो कवि हृदय की भावुकता एवं अन्तर्दृष्टि का परिचय देती हैं—

नन्हीं बूँदों से किया, घन ने यह उपकार ।  
देकर मरु की प्यास को, जीवन का उपहार॥

(दोहा 129, पृ. 31)

जीवन में निरन्तर उमंग, आशा, विश्वास, स्वप्न, अरमान हों, तो भला मनुष्य निराशा की चादर क्यों ओढ़े?

जीवन सतत उमंग ज्यों, हँसती खिलती भोर ।  
पाँख खोल छू लें चलो, इस अनन्त के छोर॥

(दोहा 108, पृ. 28)

सकारात्मक, विश्वास, स्वप्न का दामन थामा जाए तो स्वप्न, अरमान स्वतः विलसने लगते हैं । जीवन में मधु बयार बहने लगती है—

बोकर देखो तो जरा, बंजर मन में आस ।  
सम्भव है मरु में जगे, नए सृजन की प्यास॥

(दोहा 96, पृ. 26)

हेनरी वॉन की 'रिट्रीट' (Retreat) कविता हो या सुभद्रा कुमारी चौहान की 'मेरा बचपन' सब अपने अतीत की ओर प्रयाण करते हैं । कर तो नहीं पाते, कारण समय ठहरता कहाँ है पर उसकी याद सँजोए रहते हैं । उसी में मस्त रहते हैं—

बचपन था कुछ चाव थे, कुछ अभाव कुछ घात ।  
पर दुख में भी छिपी थी, सुख की हर सौगात॥

(दोहा 381, पृ. 67)

इहलोक के साथ परलोक की चिन्ता न हो तो मन अजीब भय आशंका भाव से घिर जाता है । उसकी याद प्रत्यक्षतः कुछ दे या न दे पर आश्वस्ति को जगाती है । गोपियों के दीर्घकालीन विरह, तड़प, व्याकुलता का प्रत्यक्षतः और दूर-दूर तक कोई



प्रभाव न हो, पर उनको जीने, याद करने के सुख का भला अनुभव कौन कर सकता है?

ज्ञान ध्यान योगी करें, हमें प्रेम से काम।  
खुली आँख में श्याम हैं, बन्द आँख में श्याम॥

(दोहा 479, पृ. 81)

जब एक विराट् सत्ता के साथ एकाकारिता की आशा जग जाती है तो उसमें विराट् का ही बल विक्रम समाने लगता है। तभी तो भूख-प्यास की परवाह किए बिना गोपियाँ निरन्तर कृष्ण की याद में खोई रहती हैं—

भूख प्यास हँसना रुदन, गया उन्हीं के साथ।  
मन सूना तो व्यर्थ है, काजल, बेंदी, माथा॥

(दोहा 576, पृ. 95)

यश मालवीय की तरह कवि में युग का दर्द सदा ही टीसता है, उसे धनिया की लाज बाजार में लुटती दिखाई देती है, तो शत्रुता आमजन को पूरे संसार में अंगद के पाँव की तरह खड़ी दृष्टिगत होती है। आखिर वह जाए, तो कहाँ जाए, क्या करे—

बदनीयत है दर्द भी, जग सी मन की चाल।  
रौशन थी कल, आज है, बेबस बुझी मशाल॥

(दोहा 144, पृ. 33)

यश मालवीय की पंक्तियाँ यहाँ ध्यातव्य हैं—

बुना करते हैं सारी उम्र कोई जाल चौराहे  
समय की, साँस को देते नया सुर ताल चौराहे  
कभी जूतों में देते हैं परसकर दाल चौराहे  
है खाली जेब फिर भी दिखे मालामाल चौराहे।

(समकालीन भारतीय साहित्य, मई-जून, 2005, पृ. 194-195)

कवि में राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रेम भी लहर मारता है और समय-समय पर उसकी जीवन्त अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है—

हिन्दी जग आकाश में, उड़ती पाँखें खोल।  
रे मन! नव परिवेश में, हिन्दी की जय बोल॥

(दोहा 243, पृ. 47)

कवि का फलक विराट है और विसंगतियों, विद्रूपताओं का प्राणवन्त वर्णन करते हुए वह मूल्य, मानवता, देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, भक्ति आदि की प्राणवन्त अभिव्यक्ति से मन प्राणों को आप्यायित करता है। भाषा छन्द पर उनका अप्रतिम अधिकार है। उपमा बिम्ब का वह सार्थक प्रयोग करता है। कवि के लिए साधुवाद के शब्द छोटे पड़ जाते हैं।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

---

‘चिन्तन-सृजन’ जन-मार्च एक अनुशीलन अर्थपूर्ण, प्रभावक और युग, समाज, राजनीति, व्यवस्था की अंतर्गता करनेवाली है। कहना नहीं होगा कि इसका प्रत्येक अंक पत्रकारिता जगत के भाल पर स्वर्णाक्षर हैं। समाज, व्यवस्था, नीति, राजनीति और अर्थनीति को दिशानिर्देशित करनेवाली, संपादकीय परिप्रेक्ष्य बताता है—कि जनता के हित में योजना बने, उसका ईमानदारी से पालन हो तो विपक्षी भले ही जलभुन जाएँ पर जनता उसे सिर आँखों पर उठाए चलेगी। उत्तर प्रदेश में भले ही तथाकथित राजनीति के मठाधीशों को चैन न हो, सत्ता की आलोचना में दिन बीते पर जनता समाज के आखिरी आदमी की चिंता करने वालों को पहचान ही लेती है।

माउक्से तुंग ने लिखा है External vigilance is the price of liberty आजादी, स्वतंत्रता का अर्थ आंतरिक जागरूकता है। हम करणीय अकरणीय के भेद को पहचान पाएँ और अपनी आवाज उठा पाएँ और उसे समुचित महत्त्व मिले तभी प्रजातंत्र फलता-फूलता है।

संपादक का मानना वाजिव है : “उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड के चुनाव परिणाम इस बात का संकेत देते हैं कि सचेत जनमत ने एकजुट होकर ऐसी सरकार के लिए मतदान किया है, जो निर्बोध तरीके से जनताकाम कर सके।” एक बात और। “जो सर से कफन को बाँध चुका, वह आँख चुराना क्या जाने”— योगी आदित्यनाथ में यही जज्बा जुनून है, फिर कौन करेगा उनका सामना!”

साहित्य पर बात न हुई तो इस प्रतिक्रिया का क्या अर्थ रह जाता है भला। रमेशचन्द्र शाह का लेख है “इक्कीसवीं सदी में गाँधी”, जो प्रामाणिक तथ्यों और उदाहरणों से गाँधी की महत्त्व का गायक है। यहाँ मुझे कभी पढ़े दो लेख याद आते हैं The Gandhian Way C.E.M. Joad, और I believe Sir David Iot Joad ने बताया है कि गाँधी जानते थे उन्हें क्या करना है, कैसे करना है और लो ने बताया है- Force शक्ति से विचार प्रेषित और क्रियान्वित नहीं होंगे, यह उनके दिवालिएपन को प्रकट करेगा। अतः लोगों को विश्वास में लेकर आगे बढ़ना होगा। वहीं डॉ. शाह बताते हैं कि आज अपने दलगत, मुनाफागत, स्वार्थ के लिए इतनी मारामारी और हड़बड़ी है कि कभी संस्कृति, कभी मजहब तो कभी युगीन दबाव का नाम लेकर लोग नाना प्रपंच और जाल, फैला रहे हैं। उसमें अपने स्वार्थ की रोटी सेंक रहे हैं।

हमारे धर्म और प्रकृति में सदा समन्वय और पारस्परिकता है। इसीलिए 'गंगेय यमुने चैव—हो या पर्वत परिक्रमा, या फिर धरती, वृक्ष पूजन—सबका एक ही उद्देश्य है कि प्रकृति को इतना महत्त्व, संरक्षण मिले कि पर्यावरण, कृषि, स्वास्थ्य पर कभी प्रश्न चिह्न न ही नहीं उठे। श्रीमती विनय षड़ंभी का लेख—“प्रकृति-सम्पृक्त भारतीय धर्म-परम्परा” इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कभी प्रकृति के स्वच्छंद आचरण (लगातार वर्षा, जंगली आग धधकती रही, जंगल, जंगली जीव जलते रहे) तो सी.ई.एम. जोड़ने The Story of Civilisation में लिखा कि प्रकृति के इस भीषण प्रकोप और तबाही से बचने के लिए देवी-देवताओं की सर्जना हुई। There was multiplicity of gods and goddesses, one god for rain, one for fire and one for woods etc.”

सच पूछिए तो प्रकृति जैसी है, उसे उसी रूप में स्वीकार करने से हमारा कल्याण है। कार्ल रॉजर्स ने ऊषाकालीन सूर्य के सौंदर्य को निहारनेवालों से कहा है कि सूर्य जैसा उगता है जैसी लालिमा बिखेरता है, बड़े सौंदर्य प्रतिमान है। वहाँ अपेक्षाएँ आई कि सौर्य तिरोहित्य अतएव, प्रकृति को हमें सहिष्णु होकर स्वीकारना होगा।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, वृन्दावन, राजेन्द्र पथ,  
धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 82969875286.

महोदय,

मुझे चिन्तन-सृजन की जनवरी-मार्च 2017 की पत्रिका डॉ. नंदलाल मेहता जी से प्राप्त हुई। इस पत्रिका के पृष्ठ-1 से 132 तक मैंने उसे पढ़ने की कोशिश की पर पूरी तरह पढ़ नहीं पाया। मैं एक आम लेखक हूँ, आम लोगों की भाषा में लिखता हूँ, आम लोगों के लिए। मेरी कथा-कहानियाँ समाज के साधारण आदमी के चारों तरफ रची-बसी दिखाई देती हैं। उनमें उन महान् साहित्यकारों को कुछ भी प्राप्त नहीं होगा, जिनके लेखों को आपने अपनी पत्रिका में स्थान दिया है। मेरा निवेदन है कि क्या इस साधारण लेखक को भी आपकी इस पत्रिका में स्थान मिल सकता है?

मुझे इस अंक के लेखों में सबसे अच्छा लेख लगा है—‘अल्लामः इकबाल का एक रूप यह भी’। (कृपाशंकर सिंह)। काश लेखक ने अल्लामः इकबाल की नज्म -

‘सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्तान हमारा, हम बुलबुले हैं उसकी वो गुलिस्ता हमारा।’ की आखिरी पंक्तियों का भी जिक्र किया होता, जो इकबाल साहब ने पाकिस्तान में जाकर लिखी थीं। जिन पंक्तियों से इकबाल साहब का पाकिस्तानी स्वरूप उभरकर सामने आ गया था। वो पंक्तियाँ हैं —

‘चीनो अरब हमारा —

मुस्लिम में हम वतन हैं, सारा जहाँ हमारा।’

मैं आपसे एक बार फिर अनुरोध कर रहा हूँ कि क्या मेरे जैसे फौजी लेखक को भी जिसने सीमा सुरक्षा बल, में 30 साल एक राजपत्रित अधिकारी के रूप में नौकरी की है और अब सेवानिवृत्त होकर एक अधिवक्ता के रूप में जिला अदालत गुरुग्राम में वरिष्ठ नागरिकों को निःशुल्क कानूनी सहायता प्रदान कर रहा हूँ को इस पत्रिका में लेख भेजने का अवसर मिलेगा। और मैं इस पत्रिका का सदस्य भी बनना चाहता हूँ।

धन्यवाद।

— तिलकराज मलिक, म.न. 1169, सेक्टर-4, गुरुग्राम-122001 (हरियाणा)

नोट: लेख भेजे। छपने लायक होने पर अवश्य छपेगा।

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

यावत स्थास्यन्ति महीतले..., संपादक : डॉ. एम.एल. खरे; प्रकाशक : अयन प्रकाशन, 1/20, महारौली, नई दिल्ली-110030, प्रथम संस्करण : 2017, पृष्ठ : 104, मूल्य: 550.00 रुपये।

साम्ययोग के आयाम : विनोबा-दृष्टि का पुनर्पाठ, संपादक : नन्दकिशोर आचार्य; प्रकाशक: प्राकृत भारती अकादमी, 13-ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर-302017, प्रथम संस्करण : 2017, पृष्ठ : 270, मूल्य : 180.00 रुपये।

पहाड़ों का तिलिस्म (हिमाचल प्रदेश: यात्रा, समाज), संपादक : जगन सिंह, प्रकाशक : निदेशक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110 070, प्रथम संस्करण : 2016, पृष्ठ : 240, मूल्य : 270.00 रुपये।

कविता क्या है, संपादक: विजय रंजन, प्रकाशन: सरिता लरेक सेवा संस्थान, सहिनवीं, गोसैसिंहपुर, सुल्तानपुर (उ.प्र.), प्रथम संस्करण : 2015, पृष्ठ : 272, मूल्य : 450.00 रुपये।

“अन्तोदय से सर्वोदय” समाज परिवर्तन की दिशा, स्मारिका 2017, संपादक : संतोष किड़ी; प्रकाशक : सामाजिक-आर्थिक एवं संसदीय अध्ययन केन्द्र, राँची, महावीर टॉवर (ग्राउन्ड फ्लोर), मेन रोड, राँची-834001, पृष्ठ : 136।

**केन्द्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**  
संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684,  
वेबसाइट: [www.indisansthan.org](http://www.indisansthan.org), [www.khsindia.org](http://www.khsindia.org)

**संक्षिप्त परिचय**

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य**

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थानों के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य**

■ शिक्षणपरक कार्यक्रम: (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतराज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संबद्धतात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रम: (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास: (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरेशन परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका  
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल  
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय  
निदेशक  
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com  
directorofkhs@yahoo.co.in

सेवा में,

आस्था भारती  
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट,  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,  
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.....  
.....रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है  
(✓टिक करें)।

नाम : .....

.....

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) : .....

.....

फोन न. : .....

ई-मेल : .....

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट “आस्था भारती” के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली  
में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:	एक प्रति का मूल्य
व्यक्तियों के लिए 60.00 रुपए	व्यक्तियों के लिए 20.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 150.00 रुपए	संस्थाओं के लिए 40.00 रुपए
तीन वर्ष:	
व्यक्तियों के लिए 180.00 रुपए	
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 400.00 रुपए	

## चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

- |                  |   |  |
|------------------|---|--|
| 1. प्रकाशन स्थान | : | दिल्ली   |
| 2. प्रकाशन अवधि  | : | त्रैमासिक  |
| 3. स्वामी        | : | आस्था भारती, नई दिल्ली   |
| 4. मुद्रक        | : | डॉ. लता सिंह<br>सचिव, आस्था भारती<br>(क्या भारत के निवासी हैं?)<br>हाँ, भारतीय<br>पता<br>27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096         |
| 5. प्रकाशक       | : | डॉ. लता सिंह<br>सचिव, आस्था भारती<br>(क्या भारत के निवासी हैं?)<br>हाँ, भारतीय<br>पता<br>27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096         |
| 6. सम्पादक       | : | डॉ. बी. बी. कुमार<br>सम्पादक, आस्था भारती<br>(क्या भारत के निवासी हैं?)<br>हाँ, भारतीय<br>पता<br>27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096 |

मैं डॉ. लता सिंह घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी  
और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. लता सिंह  
प्रकाशक

जून 13, 2017